सिद्धयोग

जनवरी १९९२

संस्थापक सम्पादक
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

'तस्मात्सर्वेषुकालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।
- भगवद्गीता ८-२७

वर्ष: २४

अंक : १०

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
संवाई, आगरा

प्रकाशक
सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

जनवरी
१९९२

इस अंक में पढ़िए

लेख		पृष्ठ
★ श्रेयो हि धीरोऽभि वृणीते (प्रार्थना)	....	१
★ ज्ञान-प्रसार (विशेष लेख) —ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	....	२
★ तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु (सम्पादकीय)	....	५
★ योग-साधना और चक्र —श्री कामेश्वर नारायण	....	७
★ आनन्द और प्रसन्नता की साधना —आचार्य श्री चन्द्राहास शर्मा, प्रवाचक	....	९
★ क्रोध —श्री जे० कृष्णमूर्ति	....	१७
★ तनाव : कारण और निवारण —श्रीमती सरिता भारद्वाज एम.ए., आचार्य	....	२०
★ गुरु से कपट मित्र से चोरी —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	....	२३
★ चित्त की शुद्धि —श्री जवाहिरलाल जैन	....	२६
★ मन क्या है ? —स्वामी श्री निर्गुणानन्दजी	....	२९
★ बन्ध और मोक्ष का कारण —श्री डा० गयाप्रसाद शर्मा	....	३२
★ मानस-नीति-दर्पण —संग्रहकर्ता : श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा	....	३७
★ महामना शुकदेव और उनके उपदेश —स्वामी श्री अच्युतानन्दजी महाराज		

एक प्रति ६ रु०, वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ अङ्क १०	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्त्यर्थं बहुविवादं योगशास्त्रोपदेशात्, कल्याणाना भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	जनवरी १९९२

—: श्रेयो हि धीरोऽभि वृणीते :—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

—कठोपनिषद् १/२/२

अर्थात्

मनुष्य के अन्तःकरण में श्रेय और प्रेय के विचार सदा ही उत्पन्न होते रहते हैं। कभी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा उत्पन्न होती है तो कभी सांसारिक विषयों के उपभोग की लालसा उत्पन्न होती है। यह देवासुर संग्राम मन में सदा होता रहता है। कभी देव वृत्तियाँ जागती हैं और कभी असुर वृत्तियाँ आक्रमण करती हैं। और पुरुष इन दोनों विचारों पर बहुत चिन्तित रहता है। अन्त में सांसारिक भोग को अस्थिर और विनश्वर समझकर त्याग देता है। इसके विपरीत मन्दबुद्धि पुरुष इसी संसार को सब कुछ जानता हुआ परलोक के प्रति कोई चिन्ता नहीं करता। वह संसार में ही योग और क्षेम अर्थात् सांसारिक भोगों की प्राप्ति और उनकी रक्षा को सब कुछ समझकर प्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है।

विशेष लेख :-

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी
महाराज

'जीवन तत्त्व साधन' नामक पुस्तक श्री गुरुदेवजी की स्वलिखित पुस्तक है। यह लेख उसी पुस्तक से लेकर यहाँ दिया जा रहा है।

—सम्पादक

जानु-प्रसार

(जीवन तत्त्व साधन से)

जीवन तत्त्व साधन की पाँचवी क्रिया का नाम 'जानु प्रसार' है। इस क्रिया को नाभि-चालन करने के बाद अवश्य करना चाहिए। इस क्रिया को करने के लिए पूर्ववत् चित लेटा रहे। बाँये पैर को तनाव दिये रहे और दाँये पैर को मोड़कर बाँये जानु पर रखे। पैर को इस तरह रखना चाहिए कि दाँये पैर के तलवे बाँयी जानु पर सट जायें। और मुड़ा हुआ घुटना ऊपर की ओर रहे। अब धीरे-धीरे दाहिने पैर को अपने दाँये तरह जमीन पर लाना चाहिए ताकि दाहिने पैर के घुटने व जानु जमीन से लग जायें। कुछ देर रुक कर दाँये पैर को धीरे-धीरे उठाना चाहिए। इसके बाद दाहिने पैर को सीधा तान देना चाहिए और बाँये पैर को मोड़कर उसके तलवे को दाँये जानु पर सटाना चाहिए और पूर्ववत् धीरे-धीरे अपने बाँये घुटने को बाँयी तरफ जमीन पर लाना चाहिए और घुटने व जानु को जमीन पर लगाना चाहिए, कुछ देर रुककर बाँये पैर को ऊपर उठा लेना चाहिए। इस क्रिया को तीन बार करना चाहिए। इस क्रिया में दाहिने पैर को मोड़कर तीन बार जमीन से लगाया जाता है। जमीन पर लगाने व उठाने का काम धीरे-धीरे करना चाहिए, कुल क्रिया चार मिनट में हो जाती है। समय का विभाजन इस तरह कर लेना चाहिए कि एक पैर को जमीन में लगाने में पन्द्रह सेकेण्ड लगें, फिर दस सेकेण्ड वहाँ रुका रहे फिर पाँव को उठाने में पन्द्रह सेकेण्ड लगें। इस प्रकार एक बार करने में चालीस सेकेण्ड लगेंगे और एक पाँव से तीन बार करने में दो मिनट लगेंगे। इसी तरह दूसरे पाँव से तीन बार करने में दो मिनट लगेंगे।

इस क्रिया को करने से जंघाओं व पेट के पूरे स्नायु-मण्डल यथार्थ स्थिति में आ जाते हैं और स्नायुओं में कोई विकृति नहीं रह जाती। नाभि-चालन क्रिया करने में जो तनाव व श्रम हो जाता है वह जानु प्रसार करने से ठीक हो जाता है और सभी स्नायुओं को विश्रान्ति मिल जाती है यह पहले बताया जा चुका है कि शरीर की नस व नाड़ियों के अन्दर से मल को निकालने के लिए उन्हें तनाव व ढीलापन देना चाहिए। इस क्रिया से उस उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और शरीर को बड़ा सुख और आनन्द मिलता है।

इस क्रिया को जल्दी-जल्दी नहीं करना चाहिए इसको धीरे-धीरे करने में लाभ होता है। जानु-प्रसार की क्रिया करने में पड़े हुए मल व गन्दे पदार्थ निकलकर बड़ी आँतों के रास्ते बाहर निकल जाते हैं। इस तरह यह क्रिया अन्त्रपुट कोष्ठबद्धता को दूर करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

स्वाभाविक नियम यह है कि जो कुछ खाया जाये वह पचकर रक्त आदि बन जावे और निस्सार पदार्थ आँतों से होता हुआ मल द्वार से बाहर निकल जावे। अनेक कारणों से आँतें अपना काम ठीक प्रकार नहीं करती हैं। और अपचन पदार्थ नालियों में अनेक स्थानों पर चिपक जाता है इसी को कब्ज कहते हैं। कब्ज और अपच में भेद है अपच तब होता है जब छोटी आँतों में पाचन रस ठीक तरह से नहीं बनता है और भोजन से शरीर को सारतत्व नहीं प्राप्त होता और इस तरह अनपच भोजन बाहर निकलने को मजबूर हो जाता है। इस स्थिति को अपच या बदहज्मी कहते हैं।

कब्ज बड़ी आँतों की गड़बड़ी से होता है। कभी-कभी छोटी-बड़ी आँतें अपना काम ठीक प्रकार से नहीं करती हैं तब कब्ज व अपच साथ-साथ रहता है। बड़ी आँतों की दीवारों से यत्र-तत्र मल के चिपक जाने से कोष्ठबद्धता हो जाती है किन्तु भयानक प्रकार की कोष्ठबद्धता या कब्ज तब होती है जब अन्त्रपुट (सीकम) की थैली में सड़े-गले पदार्थ जमा हो जाते हैं और निकल नहीं पाते। वे वहीं सड़ने लगते हैं और अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं :

भोजन के ठीक परिपाक होकर नियमित रूप से रस तथा मल बनाने का काम आमाशय या पाक स्थली से आरम्भ होता है। हम जो कुछ भोजन ग्रहण करते हैं वह अन्न नली द्वारा इस नली में पहुँच जाता है। अन्न नली के भीतरी भाग में भी बहुत-सी छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं जो भोजन करते समय एक लसदार पदार्थ निकालने लगती हैं। यदि भोजन कुछ कम चबाया भी होता है तो वह इस लसदार पदार्थ के सहारे आसानी से आमाशय में उतर जाता है।

आमाशय में कई पर्त होते हैं ऊपर रस का हिस्सा रहता है। नीचे श्लेष्म वाला पर्त है और बीच में स्नायु पर्त होता है। इसी ऊपर पर्त की असंख्यों ग्रन्थियों से पाचक रस निकलता है। जिससे भोजन पचकर रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है यह पाचक रस अथवा पित्त कुछ खारा और खट्टे स्वाद का होता है तथा सामान्य स्वास्थ्य वाले मनुष्य के शरीर में प्रतिदिन चार पौण्ड से आठ पौंड तक की मात्रा में उत्पन्न हुआ करता है। यह पाचक रस भोजन में मिलकर उसमें रासायनिक परिवर्तन कर देता है। जिससे उसका सार शरीर में सम्मिलित हो सकने योग्य बन जाता है। आमाशय से आगे चलकर भोजन छोटी आँतों में प्रविष्ट होता है, जहाँ यह आँत आमाशय से मिली है वहाँ एक पर्दा लगा हुआ है भोजन को आँत में जाने तो देता है, पर उसमें से किसी पदार्थ को वापस लौटने नहीं देता। आँतों के प्रथम भाग को डियोडिनम कहते हैं। दूसरे भाग को जेज्युनम और तीसरे भाग को इल्यम कहते हैं। इस इल्यम के अन्त में श्लेष्मा के पर्दे होते हैं, जिसमें छोटी आँत द्वारा रस चूस लेने के बाद बचा हुआ निस्सार अंश बड़ी में ढकेल दिया जाता है इस बड़ी आँत के तीन भाग होते हैं सीकम, कोलन व रेक्टम। इसीको मलाशय के नाम से पुकारा जाता है।

जहाँ छोटी आँत बड़ी आँत से मिलती है वहीं एक थैली है जिसे अन्धपुट या सीकम कहते हैं। सीकम से मिलती हुई एक पूँछ होती है जिसे अपेन्डिक्स कहते हैं। कभी-कभी पित्त का कुछ अंश तथा अनपचे अंश का कुछ भाग तथा अन्य विषैले पदार्थ सीकम में जमा हो जाते हैं। और आँतों की कमजोरी के कारण वहाँ से बाहर नहीं निकल पाते तथा वहीं सड़ने लगते हैं। वे अनेक प्रकार के विषैले कीटाणुओं को उत्पन्न करते हैं और शरीर के अन्य भागों को भेज-कर उन्हें रोगी बनाते हैं। कभी-कभी सीकम से कुछ पदार्थ अपेन्डिक्स में पहुँच जाते हैं और भयानक दर्द पैदा कर देते हैं। उस अवस्था में डाक्टर लोग अपेन्डिक्स को काट-कर निकाल देते हैं और रोगी के प्राण बचाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि भोजन को बिना ठीक प्रकार से चबाये हुए आमाशय में पहुँचा दिया जावेगा अथवा स्वाद के कारण भूख की अपेक्षा अधिक भोजन करके आमाशय के कार्य को बढ़ा दिया जावेगा अथवा जब तक आमाशय के पहले भोजन की पाचन क्रिया चल रही हो तब तक और कोई भोजन, चाट या मिठाई आदि खाकर कच्चे रस में सड़ाद उत्पन्न करने का कारण उपस्थित कर दिया जायेगा तो उसका परिणाम समस्त शरीर के लिए हानिकारक ही सिद्ध होगा। ऐसा कच्चा रस युक्त जब छोटी आँत से गुजरेगा तब उसमें से जो रस चूसेगी वह दूषित हो जायेगा और उसमें बने रस में भी उस सड़ाद का विष मौजूद रहेगा जो हमारे दिल, फेफड़े, गुर्दे तथा त्वचा आदि के लिए एक भार रूप होगा और सब में कुछ न कुछ खराबी पैदा करके सिर दर्द, चक्कर आना, चेहरे पर उदासी, दिल का धड़कना, खाँसी-जुकाम आदि रोग पैदा करेगा। रक्त के दूषित होने से बड़ी आँत की शक्ति भी क्षीण हो जाती है और उसके अन्दर पहुँचे हुए भोजन के शेष पदार्थ को मल में परिवर्तित नहीं कर पाती और धीरे-धीरे मलाशय की दीवारों से मल चिपक जाता है और यहीं से कब्ज शुरू हो जाता है।

आहार का जो निस्सार अंश छोटी आँत से बड़ी आँत में मल बनाकर बाहर निकालने के लिए पहुँचाया जाता है वह वहाँ पर कई घण्टे तक बना रहता है और धीरे-धीरे गुदा मार्ग तक पहुँच पाता है। इसी बीच में बड़ी आँत की माँस-पेशियाँ उसमें से थोड़ा बचा हुआ रस चूसकर एक भिन्न मार्ग से रक्त में मिलने के लिए भेजती रहती हैं। वह निस्सार अंश दूषित होने के कारण सड़ने लगता है, और उसमें चूसा हुआ रस भी दूषित होकर रक्त में मिल जाता है। तथा वह शरीर के लिए हानिकारक बन जाता है। मल का अंश पित्त की उत्पत्ति में खराबी पैदा करता है, जिससे कलेजे का दर्द, उदर रोग और पीलिया आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार जब मलयुक्त रस हृदय में पहुँचता है तो उसे भी हानि पहुँचती है। मलाश को दूर करने के लिए उसे अधिक वेग से काम करना पड़ता है। जिससे उसका धड़कना बढ़ जाता है इससे थोड़ा मेहनत का कार्य करने पर ही थकावट और हफाई आ जाती है तबियत सुस्त और उदास भी बनी रहती है। (क्रमश:)

सम्पादकीय—

तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु

मेरा मन सदा शिव संकल्पों से भरा रहे। —अथर्ववेद

अथर्ववेद के जो मन्त्र दैनिक यज्ञ-क्रिया में विनियोग एवं प्रार्थना रूप में पढ़े जाने के लिए चयन किये गये हैं उनमें से शान्तिपाठ प्रकरण में आये 'मनसा परिक्रमा' के छः मन्त्र विशेष ध्यान देने योग्य हैं। मनसा परिक्रमा का अर्थ होता है अन्तःकरण में स्थित मन देवता की परिक्रमा करना यानी मन देवता के आस-पास ही घूमकर उसे और उसकी शक्ति को पहचानना तथा पहचानकर इस शक्ति का सदुपयोग अपने एवं लोक-कल्याण के लिए करना। यों तो वे सब जिन्हें शरीर-रचना के विज्ञान को समझने में कुछ भी रुचि है यह जानते हैं कि मन हमारी आन्तर इन्द्रिय है जो अन्तःकरण में ही स्थित है और ऐसी है कि इसके सहयोग के बिना न तो हम किसी प्रकार के ज्ञान को आत्मसात कर सकते हैं और न किसी भी प्रकार का कोई क्रियाकलाप ही करवाने में समर्थ हो सकते हैं। जैसाकि इस प्रसंगमें आये छः मंत्रों में से एक में कहा गया है - 'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते' यानी जिसके बिना कोई भी कर्म करना मुमकिन ही नहीं हो सकता। वैदिक नित्य कर्म विधि में समायोजित मनसा परिक्रमा के इन मन्त्रों का जप और पाठ नियमित रूप से हर योग साधक को करके मन के स्वरूप और शक्ति को पहचानकर उसे जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति में अपना सहायक बनाना चाहिए। यही आशय है मनसा परिक्रमा के मन्त्र-पाठ का।

लोक परम्परा से भी यह जनश्रुति हम सभी सुनते आये हैं कि 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'। यानी साधारण जनों की भी सदा यह मान्यता रही है कि मन के जीवित रहने पर ही मनुष्य जीवित रहता है और मन के मर जाने पर वह मर जाया करता है। निराश और दिग्भ्रमित होकर चेष्टाहीन बनकर चुपचाप एक ओर बैठ जाने वाले मनुष्य भी 'मरे हुए मन वाले' मनुष्यों की श्रेणी में ही रखे जाने योग्य होते हैं। इसलिए वेदभगवान का आदेश है कि जीवन-संग्राम में विजयश्री का वरण करने या जीवन का लक्ष्य परम श्रेय प्राप्त करने के लिए तुम सबको अपनी मन शक्ति के स्वरूप को जानना और समझना चाहिए और शुद्ध सात्विक आहार-विहार, सत्संग और सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय द्वारा इसे सबल बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, यही इस मन का भोजन होता है। शुभ विचार, शुभ चिन्तन और श्रुतियों के आदेशों के अनुसार अपने जीवन-व्यवहार में भद्र भावनाओं को उजागर करना मन की शुद्धता और उज्ज्वलता का परिचायक रहता है तथा ऐसे ही जीवन की

मन की ऊँचाई और महत्ता का मानदण्ड कहा जाता है। मन के मानदण्ड की ऊँचाइयों का आधार उसके भद्र और शुभ विचार ही रहा करते हैं। इसीलिए तो 'मनसा परिक्रमा' के उपरोक्त ६ मन्त्रों में से प्रत्येक के अन्त में 'तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु' यानी मेरा मन सदा शुभ संकल्पों से भरा-पूरा रहे, यह शब्द-राशि बार-बार दुहराई गयी है ताकि साधक और पाठक इस महत्वपूर्ण परामर्श को नजर-अन्दाज न कर पायें।

मन का अपना स्वभाव ही यह होता है कि अगर यह शुभ संकल्पों से शून्य रहेगा तो निश्चित रूप से उसकी इस शून्यता में असत् और अशुभ विचार-भावनायें ही आगे आकर अपना अड्डा बना लेंगी। परिणाम यह होगा कि मन अपने जीवन को को उजागर करने वाले अपने ऊँचे मानदण्डों को छोड़कर नीचाई की घाटियों में उतरने लगेगा। उसकी दशा ठीक वैसी हो जायेगी जैसी कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन की हो गई थी। सामने खड़े प्रतिपक्षी दल से वह लड़ना नहीं चाहता था, अनेक बहाने बनाकर वह युद्ध क्षेत्र से पलायन करना चाहता था। तभी शोक-संविग्न मन होकर उसने अपना धनुषबाण एक ओर फेंक दिया था!

अपने पक्ष के नायक भगवान श्रीकृष्ण से उसने स्पष्ट कह दिया था 'मेरा मन भ्रमित हो रहा है 'भ्रमतीव च मे मनः।' 'मैं अपनों से लड़कर उनकी हत्या का जघन्य पाप नहीं करना चाहता। ऐसा करना तो बहुत बुरा होगा।'

भगवान् को यह समझने में देर नहीं लगी कि अर्जुन अपनों की हत्या नहीं करना चाहता, यह तो उसकी मात्र बहानेबाजी है। दरअसल उसका मन मर गया है इसलिए वह हारी-हारी बातें करने लगा है। भगवान् ने यहाँ फिर उसे मन की संकल्प शक्ति और ऊँचाइयों के मानदण्ड को समझाने का प्रयास किया। साथ ही उसे ललकारते हुए कहा क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परंतपः। हृदय की क्षुद्रता को छोड़कर खड़ा हो जा। पलायनवाद आर्यों का नहीं अनार्यों का धर्म होता है। तू आर्यवंशी है जिनका अपना धर्म ही युद्ध करना होता है।

ऊपर की यह घटना उदाहरण है इस तथ्य का कि मन शुभ संकल्पों से जब खाली हो जाता है जब उसमें क्षुद्रता अपना अड्डा जमा लेती है तब उसकी दशा ऐसी मृत प्रायः सी हो जाती है जैसी कि युद्ध शुरू होने पर अर्जुन की हो गई थी। लोकदृष्टि में यह दशा निन्दनीय ही कही जाती है।

वेद भगवान् ने इसीलिये 'मनसा परिक्रमा' के मन्त्रों में 'तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु' का जो परामर्श भर दिया है वह हमारे चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन का विषय बना रहे ताकि हम अपने जीवन के मानदण्ड को ऊँचा और उज्ज्वल बनाये रखने के लिए कभी भी मन को शुभ संकल्पों से शून्य न रहने दें। योग साधकों का तो यह जीवन धर्म ही होता है। —सम्पादक

● श्री कामेश्वर नारायण

—: योग-साधना और चक्र :—

[परिचय और उपयोगिता]

[योग-साधना में प्रायः षट्-चक्रों का वर्णन मिलता है। लेखक यहाँ सात चक्रों का वर्णन कर रहे हैं, जिसे समझने की जरूरत है। जबकि वेदों में शरीर नगरी को अष्ट चक्रा, नव द्वारा कहकर इङ्गित किया गया है। —सम्पादक]

मानव शरीर सम्बन्धी चक्रों को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें मानव शरीर की रचना पर विचार करना होगा। साधारणतः जब हम मानव शरीर की बात करते हैं तो हमारा ध्यान मानव के स्थूल शरीर की ओर जाता है लेकिन वास्तविकता यह है कि मानव के स्थूल शरीर के अलावा छः अन्य शरीर होते हैं जैसे छाया शरीर या लिंग शरीर, वासना शरीर, मनोमय शरीर, बुद्धिमय शरीर, कारण शरीर, आत्मिक शरीर आदि।

स्थूल शरीरके अलावा अन्य शरीर हमारे स्थूल चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होते क्योंकि प्रत्येक शरीर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तत्वों से बने होते हैं और प्रत्येक शरीर के चक्र अपने स्तर पर अलग-अलग होते हैं और अलग-अलग काम करते हैं।

स्थूल शरीर के साथ प्रत्येक मानव का एक छाया शरीर या लिंग शरीर होता है जो स्थूल शरीर को परिवेष्टित करते हुए उससे लगा रहता है। साधारणतया लोग समझते हैं कि मानव शरीर के अन्दर प्राणशक्ति स्थित है, लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राण शक्ति इसी छाया शरीर को अनुप्राणित करती रहती है। स्थूल शरीर को कायम रखने के लिए शुद्ध एवं सुपाच्य आहार, शुद्ध हवा एवं अनुप्राणित करने वाली ऊर्जा शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति का संचार छाया शरीर में स्थित चक्रों के माध्यम से होता है। जिन लोगों ने संयम एवं साधना द्वारा सूक्ष्म दर्शन की योग्यता प्राप्त करली है उन्होंने स्वयं देखा और बतलाया है कि यह छाया शरीर को परिवेष्टित करती हुई उससे मिली हुई है जिसमें सात गोलाकार तस्तरी जैसा या फूल के बाहरी सतह जैसा बीच में थोड़ा धँसा हुआ है जो सूक्ष्म धागों से स्थूल शरीर को जोड़ता है। मृत्यु के समय यह तन्तु स्थूल शरीर से अलग हो जाते हैं जिससे प्राण-शक्ति का संचार बन्द हो जाता है। फलतः स्थूल शरीर निष्प्राण हो जाता है। ये चक्र बराबर चक्कर काटते रहते हैं और सूर्य से शक्ति ग्रहण कर स्थूल शरीर को अनुप्राणित करते हैं। प्रत्येक चक्र की बनावट एवं कार्यशैली भिन्न-भिन्न होती है। ये चक्र फूल सदृश पंखुड़ियों वाले होते हैं।

योगियों ने योग मुद्राओं द्वारा और सूक्ष्म दर्शन द्वारा पाया है कि मानव शरीर के मेरुदण्ड के उभय पार्श्व में इड़ा, पिंगला, नामक दो नाड़ियाँ हैं। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में में एक तीसरी नाड़ी है जिसका नाम सुषुम्ना है जिसके निचले भाग में, यानि गुदा स्थल के पास चतुर्दल कमल है जिस पर कुण्डलिनी शक्ति सर्पाकार कुण्डली बनाकर स्थित है। यह स्थान गुदा और लिंग के बीच में स्थित है

जहाँ समस्त शक्तियाँ परिवेष्टित हैं। कुण्डलिनी शक्तिके जागृत होने पर शक्ति ऊर्ध्वगामी होकर अन्य चक्रों से होती हुई मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित सहस्र चक्र तक जाती है जिससे आत्मानुभूति असीम आनन्द एवं शान्ति प्राप्त होती है।

मानव शरीर से परिवेष्टित रहने वाले छाया शरीर में सात शक्ति केन्द्र अथवा चक्र होते हैं जिनका स्थान बनावट एवं कार्य के सम्बन्धमें संक्षिप्त रूपसे नीचे दिया जाता है—

१. मूलाधार चक्र—

कहते हैं इसका स्थान रीढ़ की हड्डी के निचले भाग में स्थित है जो एक चतुर्दल कमल के सदृश है जिसमें पृथ्वी तत्व एवं गणपति देवता हैं। प्रत्येक चक्र या वृत्त का मध्य भाग पहिया के मध्य भाग जैसा और पंखुड़ियों का किनारा पहिये में लगे बाहुओं जैसा होता है अथवा यों कहें वृत्ताकार चक्र का केन्द्र धुरी एवं उसकी त्रिज्याओं के माध्यम से ऊर्जा केन्द्र में पहुँचती है और चलकर काट कर ऊर्जा समकोण बनाते हुए सीधी दिशा में छिटक कर धमनियों के सहारे शरीर में शक्ति प्रदान करती है। प्रत्येक पंखुड़ी अथवा त्रिज्या द्वारा भिन्न-भिन्न तरह की ऊर्जा अथवा तत्व को ग्रहण कर उनका संचार करती है।

२. स्वाधिष्ठान चक्र—

गुदा और लिंग के मध्य भाग में जहाँ यकृत स्थित है और मूलाधार चक्र के ऊपर थोड़ा दाहिनी ओर हटकर है। यह चक्र छः पंखुड़ियों वाला फूल या छः त्रिज्याओं वाला वृत्त जैसा होता है जिसमें जल तत्व एवं ब्रह्मा जी देवता हैं। इसके छः दल लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला एवं बैंगनी रंग के दिखाई देते हैं।

३. मणिपूर चक्र—

इस चक्र को मणिपुर चक्र कहते हैं जिसका स्थान नाभि के ऊपर है। इस चक्र में दश पंखुड़ियों वाला कमल या दस त्रिज्याओं वाला वृत्त है जिसमें अग्नि तत्व एवं विष्णु हैं। यह विचार आदि से सम्बन्धित है।

४. अनाहत चक्र—

यह बारह पंखुड़ियों वाला कमल या बारह त्रिज्याओं वाला वृत्त है जो हृदय स्थल पर स्थित है जिसमें वायु तत्व एवं रुद्र देवता हैं।

५. विशुद्ध चक्र—

यह सोलह पंखुड़ियों वाला चक्र कंठ देश में स्थित है इसमें आकाश तत्व एवं चन्द्रमा देवता है। इसमें नीले और हरे रंग की प्रधानता है।

६. आज्ञा चक्र—

इसका स्थान दोनों भृकुटियों के मध्य भाग में है जो दो दलों में विभाजित है और प्रत्येक भाग में ४८ अड़तालीस त्रिज्यायें हैं और दोनों भाग मिलकर ९६ छियानवे त्रिज्यायें हैं—इसके देवता शिव हैं। यहाँ पर सर्वदा सोऽहं मन्त्र का जाप होता है।

७. सहस्रार चक्र—

इसे शून्य चक्र भी कहते हैं, यह सहस्र दल कमल ब्रह्मरन्ध्र या मूर्ध स्थान यानि सिर के ऊपरी भाग में स्थित है जिसमें ९७२ नौ सौ बहत्तर त्रिज्यायें होती हैं। यह स्थान तत्वातीत है। निर्गुण, निराकार, शुद्ध चेतन परमात्मा यहाँ प्रकाश स्वरूप में स्थित है।

चक्रानुसन्धान करते समय जिस चक्र के जो देवता हैं उनका स्मरण करते हुए उस चक्र को जाग्रत करने की भावना करनी चाहिए।

(मासिक अध्यात्म ज्योति से साभार)

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
प्रवाचक

आनन्द और प्रसन्नता की साधना

आनन्द प्राप्त करना सभी के जीवन का परम लक्ष्य है। आनन्द को श्रुतियों ने साक्षात् ब्रह्म कहा है। आनन्द से ही समस्त प्राणि-जगत तथा भूत-जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लयता होती है ऐसा हमारा सनातन सिद्धान्त है। उस परम पुरुष में जिसे पुरुषोत्तम, परमात्मा, कूटस्थ चैतन्य अथवा परमेश्वर कहा जाता है, उसमें आनन्द ही आनन्द है जो सविशेष रूप से विद्यमान है। सच्चिदानन्द स्वरूप जगन्नियन्ता में आनन्द ही आनन्द मुख्य है। उस आनन्द को देने के लिए ही वह निर्गुण निराकार से सगुण साकार होकर अवतार लेता है और सन्तों का प्रतिपालन एवं मुनिमन रंजन किया करता है। वह आनन्दघन कभी राजा दशरथ के मणिमय आँगन में विचरता-फिरता है, कभी सब का सम्मान करने वाले और सबसे प्रेम करने वाले नन्द और यशोदा की गोद में मक्खन के लिए मचलता है। कभी वह मीरा का नटवर नागर बनकर मतवाली मीरा के हृदय में उतरकर विष को भी अमृत में बदल देता है। कभी वह महारास के द्वारा जड़-चेतन को आनन्द सागर में डुबोकर रस-मग्न करता है। उस गिरधर नागर की लीलायें, वंशीवादन और दिव्य-ज्ञान संसार की दावानल से दग्ध असहाय जीवों को आनन्द देने के लिए है। आनन्दकन्द जगत्पावन श्री कृष्णचन्द्र की मधुर-मधुर मुस्कान ता-ता-थै-ई नृत्य और वंशी की मधुर ध्वनि चक्षु और कर्णेन्द्रियों के माध्यम से चराचर जगत के जीवों के हृदय में पहुँचकर आनन्द का समुद्र पैदा कर देती है, जिसमें भक्ति का ज्वार-भाटा आने लगता है। सद्भावों के रत्न हर तरंग से उठकर बाहर बिखरने लगते हैं। जिससे हर ओर प्रेम, मधुरता शान्ति, आशा, विश्वास सदाचार, आत्मीयता के सद्गुणों की हिलोरों से तन-मन-शरीर और जीवन हर क्षण पुलकित और प्रफुल्लित रहता है। जिस भाग्यशाली सुकृती जीव को आनन्दकन्द प्रभु की एक झलक भी मिल जाय तो उसका जीवन धन्य हो जाता है। उनका संस्पर्श पाकर वायु भी सुखदायी बन जाता है। जो-जो वस्तुयें उसके सम्पर्क में आती हैं वे भी चैतन्य बन जाती हैं। चैतन्य महाप्रभु के हृदय में आनन्द का अथाह सागर हर समय हिलोरें लेता रहता था। वे जिधर चलते थे आनन्द ही आनन्द बिखरने लगता था। जिस पर दृष्टि पड़ जाती थी वह भी आनन्द सागर में गोते लगाने लगता था।

एक बार उन्होंने उस महान् आनन्द की स्थिति में सूखे वृक्ष को हा कृष्ण ! हा कृष्ण !! कहते हुए अपनी बाहों में भर लिया और उससे लिपट गये। आश्चर्य !! उस सूखे पेड़ में रोमांच के रूप में अंकुर फूटने लगे और वह पेड़ हरा-भरा हो गया। जिन्हें जीवन में इस प्रकार का कोई अवसर

नहीं मिला कि वे योग—ध्यान और समाधि जनित आनन्द का दर्शन और अनुभव कर सकें, यह बात भावुकता या अतिशयोक्ति-सी लगेगी। समाधि में सविकल्पक भूमिका की चार अवस्थाओं में आता है—विचार, वितर्क, आनन्द तथा अस्मितानुगत। आनन्दानुगत समाधि में यह सब घटित हुआ करता है।

आनन्द-कन्द करुणा-निधान हमारे प्राणेश्वर श्री सद्गुरुदेव जहाँ विराजते थे वहाँ सुख, शान्ति और प्रसन्नता ओत-प्रोत हो जाती थी। गहन दुःखों से बोझिल मन लिए साधक जैसे ही उनके समक्ष पहुँचता था, उनके दर्शन मात्र से दुःख-राशि ऐसे ही तिरोहित हो जाती थी, जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार की राशि। दया-सागर के श्री चरण-कमल में प्रणाम करने पर तो न जाने क्या-क्या होने लगता था। कर्म संस्कार चक्र ठहर जाता था। कर्माशय में से शुभ और पुण्य के संस्कारों में आगे से आगे आकर पुण्यफल देने की होड़ लग जाती थी। शरीर रोमांचित हो उठता था। कण्ठ गद्गद हो जाता था। नेत्रों में से अविरल अश्रुधारा की नदी बहने लगती थी। पाँचों प्राण अपनी अलगाव प्रवृत्ति छोड़कर एक हो जाते थे और सहज रूप से भक्ति का प्राणायाम होने लगता था। हृदय दिव्य चेतना से खिल उठता था। जीवन के सारे दुःख तत्क्षण विलीन हो जाते थे। कदाचित् उन कृपा सिन्धु के परम-पावन करों का शरीर से स्पर्श हो जाता या सिर पर वे अपना वरद हस्त रख देते तो कुण्डलिनी शक्ति भगवान सदा शिव से मिलने को छटपटाने लगती थी। मूलाधार चक्र में स्फुरण होने लगता, चींटी-सी चलने लगती सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर और सिर में सहस्र चक्र में हलचल तथा कुछ कड़क-कड़क सी आवाज होने लगती। कानों में सनसनाहट और शरीर में उष्णता का आभास होने लगता था। यदि उनकी स्निग्ध, कोमल मर्मभेदी अन्तरावलोकिनी अन्तर्लक्ष्यमयी दृष्टि साधक पर पड़ गई तो फिर कहना क्या? त्राटक लगने लगता, शाम्भवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, नभोमुद्रा आदि-आदि न जाने क्या-क्या अन्दर ही अन्दर सिद्धयोग की क्रियायें स्वतः चल पड़ती थीं। यदि कभी वे कृपानिधान अपनी विशाल बाहुओं में भरकर अपना क्षणिक-सा प्यार दे देते तो बहुत दिन तक तन-मन का होश नहीं रहता था।

जगत के सारे व्यवहार ऐसे ही चलते रहते थे जैसे कोई नशे की हालत में रहकर कार्य करता रहता है। बाहरी नशा तो बुद्धि को खराब कर दुःख-संकट, विपत्ति और विनाश की ओर ले जाता है, किन्तु यह दिव्योन्माद हँसते-खेलते सारे काम आनन-फानन में निबटाकर मन पर कर्म का मल (संस्कार) नहीं जमने देता था। यह सब उन सिद्धेश्वर के योगयुक्त रहने के कारण होता रहता था।

आनन्द सुख-दुःख दोनों से परे की विशेष अवस्था है। जब रजोगुण प्रधान चित्तवृत्ति होती है तो उसका परिणाम दुःख होता है। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में ऐसा ही कहा है—'रजसस्तु फलं दुःखम्।'

इसी प्रकार सतोगुण का परिणाम सुख है। सुख और दुःख दोनों में विषय इन्द्रिय तथा भोक्ताभाव की अपेक्षा होती है। जो विषय एक समय सुख देता है वह दूसरे समय दुःखदायी हो जाता है। गर्मियों में जैसे पंखे की हवा बहुत सुखदायी लगती है किन्तु वही हवा जाड़ों में दुःखदायी लगने लगती है। वृत्तिभेद से भी वस्तु से सुख-दुःख का

अनुभव हुआ करता है। जैसे एक रूपवती युवती रजोगुणी वृत्ति वाले कामी को कामिनी प्रतीत होती है। सतोगुण प्रधान संन्यासी को जगज्जननी भगवती का स्वरूप प्रतीत होती है और वही देवी एक अबोध बालक को स्नेह और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति माँ जैसी लगती है। इस प्रकार सुख-दुःख और मोह की अनुभूति अन्तःकरण की वृत्ति के अनुसार तत्संयोग के फलस्वरूप हुआ करती है।

मुक्तावस्था त्रिगुणातीत अवस्था है। वहाँ सुख-दुःख दोनों का अभाव हो जाता है। क्योंकि सुख भी गुणों के दायरे में है। उसके साथ राग रहता है। दुःख भी रजोगुण का रूप है, उसके साथ द्वेष लगा रहता है। सुख-दुःख दोनों ही बन्धन के कारण हैं। बन्धन के कारण होने के कारण ज्ञानी और विवेकशील पुरुषों ने सुख को भी दुःख (हेय) कोटि में ही माना है। भगवान बुद्ध के चार आर्यसत्यों में—'सब्बं खनिकम्' और 'सब्बं दुःखम्' ये दो प्रधान सत्य हैं। सब त्रिगुणात्मक दुःखरूप ही हैं। उनसे सुख की प्रतीति बुद्धिभ्रम और अज्ञान के कारण ही प्रतीत होती है। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलि ने त्रिगुण के दायरे में आने वालों को दुःख ही माना है और उससे छूटने के लिए धारणा-ध्यान-समाधि रूप अन्तरंग साधनों का उपदेश किया है।

'परिणाम ताप संस्कार दुःखैं गुण
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

यो. द. २/१५

अर्थात् सुख के लिए दो बातों की आवश्यकता बनी रहती है—विषय और विषय का भोक्ता। इससे अद्वैतावस्था नहीं आ सकती। द्वैत बने रहने पर 'द्वितीयाद् भयं भवति'—के सिद्धान्तानुसार दूसरे के रहते आनन्द हो नहीं सकता भय ही होगा। जब आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त होती है तब उसे भोक्ता कहा जाता है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है।

'आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। २/३

भोक्ता की स्थिति रहने पर गुण और वृत्तियों के विरोध के कारण सुख भी दुःख से भरा होने के कारण विवेकी पुरुष के लिए दुःख रूप ही है। जैसे मधुर स्वादिष्ट लड्डू में विष मिला हो तो क्या कोई उसे खाना चाहेगा? इसी प्रकार जिसे हम सुख मान बैठे हैं, उसमें चार प्रकार का दुःख छिपा होता है। पहला दुःख परिणाम दुःख है। जैसे हम स्वाद-स्वाद में गले तक ठूँस-ठूँस कर रसगुल्ले खालें। खाते समय बहुत अच्छा लगता है। किन्तु थोड़ी देर में ही पेट में दर्द, कै, दस्त का दुःख सुख को दुःख में परिणित कर देता है। ज्यों-ज्यों हमारा भोगाभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों हमारी तृष्णा भी आग में घी डालने से आग के बढ़ने की तरह बढ़ती ही जाती है, शान्त नहीं होती। परिणाम स्वरूप तृष्णा हमारे मन को बेचैन बना देती है। चित्त की चंचलता ही महान् दुःख है। परिणाम यह होता है कि भोग भोगते-भोगते इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है किन्तु विषय लालसा हमें उद्विग्न किए रहती है। 'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' की कहावत चरितार्थ होती है।

दूसरे प्रकार का दुःख है ताप-दुःख। विषय सुख की साधन-सामग्री के जुटाने में जो दुःख उठाना पड़ता है वह ताप-दुःख होता है।

तीसरे प्रकार का दुःख संस्कार दुःख है। सुख भोगने पर चित्त पर जो रागद्वेषात्मक संस्कार पड़ते हैं और उनके विवश होकर जो

शुभाशुभ कर्म किए जाते हैं उनका चित्त पर संस्कार पड़ता है। उन संस्कारों में जन्म और मरण लगा रहता है। इसके अतिरिक्त गुण-वृत्ति विरोध का दुःख भी सुख में दुःख की सृष्टि करने वाला होता है। सत, रज, तम—ये त्रिगुण प्रकाश क्रिया तथा स्थिति स्वभाव वाले हैं।

इन गुणों में सुख, दुःख और मोह रूप वृत्तियाँ रहा करती हैं। गुण परस्पर एक दूसरे को अपने अधीन कर परिणाम पैदा किया करते हैं। जब सतोगुण रजोगुण और तमोगुण को दबाकर रखता है तो सुखात्मक वृत्ति होती है। जब रजोगुण अन्य दोनों को दबाकर रखता है तो दुःख वृत्ति और जब तमोगुण अन्य दोनों को अभिभूत करता है तो मोह वृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। घरों में धन-सम्पत्ति पद-प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य तथा सुख-सुविधाओं के सारे साधन होने पर भी सास-बहू, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, मालिक-नौकर, भाई-भाई के परस्पर गुण न मिलने पर वृत्तियों में विरोध होने से परस्पर खटपट होती रहती है। सारा गुण गोबर हो जाता है। नानक देव जी महाराज इसीलिए कहते हैं—

नानक दुखिया सब संसार।
सुखी वे ही जिन नाम अधार ।।

समस्त प्रपंच को दुःखरूप मानकर उससे बचने के लिए आत्माराम होना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि एकाग्र मन, एकाग्र चित्त और बुद्धि और अहंकार में दुःख सूक्ष्म होते-होते सूक्ष्म शरीर के परे शुद्ध अहंकार से उत्पन्न ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाता है। वस्तुतः आत्म ज्ञान आनन्द ही है। आनन्दानुगत समाधि में अहंकार के साक्षात्कार करने पर परमानन्द की अनुभूति होती है। यह परमानन्द इन्द्रिय मन से परे चिदाभास शुद्ध बुद्धि द्वारा अनुभवगम्य होता है।

गुणातीत अवस्था में पहुँचकर गुण वृत्ति विरोध से अनुभव में आने वाला हर प्रकार का दुःख तिरोहित हो जाता है। गुणातीत अवस्था पर-वैराग्य की अवस्था है।

कहिय तात सो परम विरागी।
तृण सम सिद्धि तीन गुण त्यागी।।

यह वैराग्य ज्ञान की ही पराकाष्ठा है। ज्ञान दशा आनन्द दशा है। एक सन्त आनन्द दशा का वर्णन अपनी सधुक्कड़ी भाषा में इस प्रकार किया करते थे कि जहाँ अपने आत्म तत्व अथवा अपने परम प्रिय प्राणेश्वर जगदीश्वर से आन (भिन्न) कोई दूसरा 'द' अर्थात् दिखाई न दे वह आनन्द कहलाता है। गीता में योगेश्वर जगदात्मा श्रीकृष्ण ने उसे इन शब्दों में व्यक्त किया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च
मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि
स च मे न प्रणश्यति ।।

अर्थात् जो सब प्राणियों और वस्तुओं में केवल मुझे ही देखता है और मुझ परमात्मा में ही सारी सृष्टि को देखता है वह आनन्द का अधिकारी हो जाता है। उस अवस्था में उस योगी को परम सुख की अनुभूति होती है, जो केवल बुद्धि द्वारा बोध्य है न कि बाह्य इन्द्रियों से ग्राह्य है। उसमें स्थित होकर आत्म तत्व के ज्ञान का विस्मरण नहीं होता। उस आनन्द से बढ़कर योगी के लिए कोई दूसरा सुख नहीं होता। यदि योगी उस अद्वय आनन्द में स्थित हो जाय तो महान् से महान् दुःख भी उसे विचलित नहीं कर पाते। उस दुःख के वियोग की इस आनन्दावस्था को ही

प्रकारान्तर से योग कहा जाता है। देखिए गीता में भगवान की वाणी—

> सुखमात्यन्तिकं यत्तद्-
> बुद्धिग्राह्य मतीन्द्रियम् ।
> वेत्ति यत्र न चैवायं
> स्थितश्चलति तत्वतः ॥
> यं लब्ध्वा चापरं लाभं
> मन्यते नाधिकं ततः ।
> यस्मिन्स्थितो न दुःखेन
> गुरुणापि विचाल्यते ॥
> —गीता ६/२१, २२

यह विलक्षण आनन्द दशा तब आती है जब जप, स्मरण और ध्यान के अभ्यास से एकाग्र होकर साधक समाधि में चला जाता है। इन्द्रियाँ और मन शान्त तथा मौन हो जाते हैं। साधक मुनि बन जाता है। मन जब विक्षेप शून्य होकर आनन्द से भर जाता है तो प्राण आज्ञा-चक्र में स्थिर हो जाते हैं। मन संकल्प विकल्प शून्य होता है। बुद्धि भी अचल हो जाती है। एक तत्व का सहज प्रवाह चलने लगता है। जिससे व्याधिस्त्यान आलस्य आदि योग के विघ्न तथा श्वास-प्रश्वास की बेखबर गति के रूप से उत्पन्न चित्त विक्षेप भी बन्द हो जाते हैं।

इस सब का परिणाम यह होता है कि दुःख रूप कर्म संस्कारों का उस समय कोई वश नहीं चलता। आनन्द ही आनन्द नदी में बाढ़ की तरह उमड़ने लगता है। जीवन में प्रेम ही प्रेम छलकता है। कृपा सिन्धु गुरुदेव सदा मौज-मस्ती और प्रेम में डूबे रहा करते थे। यह अवस्था ही ऐसी होती है जहाँ सारी कामनायें शान्त हो जाती हैं। सन्तोष रूपी अत्युत्तम फल साधक को निर्विघ्न और उत्साही बना देता है। कर्म फल की इच्छा मन से विदा हो जाती है। निष्काम कर्म का स्वतः आविर्भाव होने लगता है। कर्म त्याग से वासना और कामना का अन्त नहीं होता। मन से जब तक संकल्प त्याग नहीं होता तब तक वासना विद्यमान रहा करती है। सन्तोष आने पर मन संकल्प-विकल्प के जाल में नहीं पड़ता। समतावस्था का सूर्य उदित होता है।

आनन्द ही समाधि-सुख है। इस समय प्राण स्पन्दन और मन तथा इन्द्रियों की गति बाहर की ओर से रुककर अन्दर मूलाधार से लेकर सहस्रार चक्रों तक आत्मस्वरूप की ओर प्रवाहित होती है। उस सुख का अनुभव केवल बुद्धि ही कर पाती है। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ और मन सुप्त हो जाते हैं। मूर्च्छित हो जाते हैं। बुद्धि जाग्रत रहती है। यह सुख बाह्य सुख की तरह परिणाम में दुखदायी नहीं होता, प्रत्युत यह सुख स्थायी और धारा प्रवाह चलने वाला होता है। क्षण भर को भी इस सुख का अनुभव हो जाय तो संसार के सारे सुख इसके आगे फीके लगने लगते हैं। सन्त तुलसीदास ने इसी अवस्था को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> जो तोहि राम लागते मीठे।
> तो षट्रस, नवरस, अनरस,
> सब ह्वै जाते फीके ॥

इस सुख का अनुभव कर जीवन की तपन शान्त हो जाती है। यह सम्प्रज्ञात समाधि की तृतीय और चतुर्थ भूमिका में घटित होने वाली घटना है। जब आनन्दावस्था आठों प्रहर स्थायी हो जाती है तो दुःख कष्टदायी नहीं होते। इस अवस्था में योगी वासना, श्रम तथा खेद रहित होकर कर्म कर सकता है। ऐसा इसलिए सम्भव है क्योंकि अन्तः-करण की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। बुद्धि

आत्मा के साथ समाहित हो जाती है फिर संसार के सुख-दुःखों का अनुभव कैसे होगा ? इस समय चित्त एकाग्र भूमि को लाँघकर निरोध भूमि का स्पर्श करने लगता है। दुःख की प्रतीति तभी तक होती है जब तक मन की गति अपान वायु में होती है। जैसे ही प्राणायाम, ध्यान और समाधि से मन अपान को छोड़कर समान में तथा समान से प्राण में जाकर स्थित होता है वैसे ही आनन्द ही आनन्द अनुभवगम्य होता है। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे दाँयें-बायें सर्वत्र आनन्द का समुद्र हिलोरें लेता प्रतीत होता है।

इस अवस्था में नेत्रों में, मुख में, गुदा स्थान में, जननेन्द्रिय द्वार में तथा नाभि और कण्ठ में सुखद शीतलता और हलकापन प्रतीत होने लगता है। सिर में शिखा स्थान पर एक तरंग की तरह का स्फुरण प्रारम्भ हो जाता है। भ्रूमध्य में एक ज्योति स्फुरित होने लगता है। सत्वगुण में ऊर्ध्वगमन करने के कारण आनन्द से मन और बुद्धि भर जाते हैं। उनके तृप्त होने पर इन्द्रियाँ और शरीर भी आनन्द से भर जाया करते हैं जिससे शरीर के सभी रोग ठीक हो जाते हैं। प्राणायाम की साधना और मन्त्र-जप से यह अवस्था शीघ्र प्राप्त की जा सकती है।

जिस साधक का चित्त श्री सद्गुरुकृपा से अन्तर्मुखी हो जाता है वह अपने अन्दर आनन्द की अनुभूति करने लगता है। जब तक मन इन्द्रिय-विषयों के पीछे भागता है तब तक सुख शान्ति और आनन्द कहाँ ? सुख का अर्थ ही है—सु=सुन्दर, ख=शून्य में या चिदाकाश में आश्रय होना। गीता में जगदाधार योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्म भूतोऽधिगच्छति ॥
—गीता ५/२४

अर्थात् परम शान्ति का निर्वाण अवस्था वह योगी प्राप्त करता है जो विषय भोगों में नहीं अपितु अपनी आत्मा में सुख को प्राप्त कर आत्म-दृष्टि युक्त होकर आत्माराम हो जाता है। ब्रह्म में बुद्धि जब तक स्थित नहीं होती तब तक परमानन्द प्राप्त नहीं होता।

योगी लोग मन की चंचलता को रोककर स्थिर मन से आत्मा का दर्शन कर आत्म सिद्धि प्राप्त करते हैं। आत्म-ज्योति युक्त योगी को विषय सुख में आनन्द नहीं मिलता। अतः वे समाधि-सुख (आनन्द) प्राप्त कर विषय जनित काम-क्रोध के ताप से सदा मुक्त रहते हैं। प्राणायाम और मनोलय दोनों क्रियाओं से जब प्राण वायु भ्रूकुटि में स्थिर हो जाती है तब योगी आत्मा में रमण करने लगता है। जब तक प्राण-प्रवाह इड़ा और पिंगला में प्रवाहित होता है तब तक चित्त शान्ति और आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता।

योग साधना से जब प्राण सुषुम्ना मार्ग में प्रवाहित होने लगता है तो उसके साथ ही मन भी सारे चक्रों पर माला फेरने के समान चलकर आज्ञाचक्र में स्थिर हो जाता है। वैशारदी बुद्धि में पर वैराग्य का सूर्य चमकने लगता है। उस समय विषय हेय प्रतीत होने लगते हैं। मन विषयों की ओर मुड़कर भी देखना नहीं चाहता, उनका भोग करना तो बहुत दूर की बात है। जब तक अन्तःकरण में वासना का वेग प्रबल है, तब तक मन की चंचलता के कारण प्रसन्नता और आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। ज्यों-ज्यों सत्संग, साधु संग तथा शास्त्र चिन्तन एवं वैराग्य प्रवृत्ति से

योग साधना में रुचि एवं इससे दुःखों के नाश का विश्वास पैदा होता है, त्यों-त्यों मन साधना की ओर आकर्षित हुआ करता है। आनन्द की उपलब्धि चित्त की प्रसन्नता बिना नहीं हो सकती।

प्रसन्नता के उपाय

भगवान श्रीकृष्ण ने अन्तःकरण की प्रसन्नता को सभी दुःखों को दूर करने का उपाय माना है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
—गीता २/६५

चित्त में प्रसन्नता की धारा सतत् बहती रहने पर बुद्धि स्थिर हो जाती है तथा भगवान और भगवद् भक्ति में मन लगता है। ध्यान और समाधि की ओर सहज प्रवृत्ति हो जाने से सभी दुःखों का अन्त होने में सन्देह नहीं रहता। भगवान शंकराचार्य कहते हैं कि प्रसन्न चित्त की बुद्धि आकाश के समान निर्मल और व्यापक बनकर शान्त हो जाती है। निर्मल चित्त ही स्थिर होता है चंचल चित्त में ही घोर अशान्ति तथा अज्ञान होता है। देहासक्ति और विषयों की तृष्णा अज्ञान के कारण चंचल चित्त में ही उत्पन्न हुआ करती है। जब तक अज्ञान दूर नहीं होता तब तक चित्त प्रसन्न नहीं हो पाता। चित्त को देह में से हटाकर आनन्द स्वरूप आत्मा से संयुक्त करने पर चित्त प्रसन्नता से भर उठेगा। इसके लिए ध्यान की नितान्त आवश्यकता है। कोरा शब्दज्ञान अज्ञान का नाश करने में समर्थ नहीं हो सकता। ज्ञान संकलिनी तन्त्र में कहा गया है कि—'चलचित्ते: वसेच्छक्तिः स्थिरचित्ते, वसेच्छिवः'। अर्थात् चंचल चित्त में केवल माया की शक्ति रहती है जबकि स्थिर चित्त में परम व्योम स्वरूप शिव निवास करते हैं।

जब भी जीवन में दुःख प्रसंग आयें, सावधान रहें कि चित्त न मैला हो जाय। जब भी अपना मनचाहा काम नहीं होता तभी चित्त दुःखी होने लगता है। ऐसे अवसरों पर जोर-जोर से कीर्तन करना चाहिए। तीव्र संवेग से मंत्र जप करना चाहिए अपने इष्टदेव को हृदय में बैठाकर अपनी चिन्ता उनके चरण कमलों में सौंपकर निश्चिन्त होने का अभ्यास करना चाहिए। किसी भी और तरह का नुकसान तो पूरा हो सकता है किन्तु यदि दिल बिगड़ गया तो जीवन बोझिल हो जायेगा। प्राण संकट उपस्थित हो जायेगा। अतः चिन्ता छोड़कर इष्ट की लीलाओं और उनकी कृपाओं का स्मरण करना चाहिए। हृदय परमात्मा का मन्दिर है अतः मन्दिर की रक्षा सब कुछ देकर भी करनी चाहिए। न अपना हृदय दुःखी करना है और न अपनी बातों और व्यवहार से किसी दूसरे का हृदय दुःखी करना है, अरे! हमारे प्राणधन, जीवन सर्वस्व युद्ध के मैदान में भी बंशी बजाते हैं। ऐसे ही बंशी की ध्वनि से चित्त को प्रसन्नता से भर लें तो जीवन संग्राम में भगवान के इस आदेश को सार्थक कर सकते हैं।

'युद्ध स्व विगत ज्वर'—अर्थात् क्लेश और दुःख रूप ज्वर का अनुभव किये बिना जीवन संग्राम में जुट जाने से मान-अपमान हानि-लाभ सभी स्थितियों में समत्व बुद्धि

प्राप्त होने लगेगी। दुःख मन में अभाव भरने से होता है। हम दूसरों से कुछ पाना चाहते हैं। जब हमें मनचाहा सम्मान, व्यवहार, आदान-प्रदान नहीं मिलता तो हमारा चित्त अपमान, निराशा, जलन, ईर्ष्या और प्रतिशोध तथा वैर-विरोध में भर जाता है। वैर और विरोध जीवन को बिगाड़ देते हैं। दुःख को स्वयं अपनाकर यदि सुख को दूसरों में बाँटने का स्वभाव बना लें तो चित्त प्रसन्न होगा। मान और सुख लेने की चीज नहीं है, देने की चीज है। हम लोग दूसरे से लेना तो चाहते हैं, देना नहीं चाहते इसी का नाम है—स्वार्थ। जब दोनों ओर स्वार्थ हुआ करता है तो अशान्ति, दुःख और दौर्मनस्य का जन्म होता है। ऐसी चित्त की अवस्था प्राप्त होने पर हम भगवान श्रीराम के गुणों का चिन्तन करें तो हमारा जीवन मधुरता से खिल उठेगा।

भगवान श्रीराम किसी की सेवा को तो सदा याद रखते हैं। किसी के द्वारा किये गये अपमान को याद नहीं रखते। राज्याभिषेक के समाचार सुनकर और तत्काल ही बनवास का आदेश सुनकर उनका चित्त उद्विग्न नहीं हुआ। समरसता, समता, तथा समचित्तता की स्थिति का ज्ञानपूर्वक अभ्यास करने से चित्त प्रसन्न रहता है। जब हम किसी के किये गये उपकरण को हृदय से स्वीकार करते हैं तथा अपनी नेकी को कुँए में डालते अर्थात् भूल जाने की आदत बना लेते हैं तो हमारा चित्त प्रसन्न रहने लगता है। भगवान श्रीराम पवन पुत्र श्री हनुमान के प्रति सदा कृतज्ञता का भाव ही रखते हैं।

सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।
मैं प्रति उपकार करौं का तोरा॥

भगवान श्रीराम की तरह हमारे जीवन में कृतज्ञता का भाव आ जाय तो सत्वोद्रेक से अन्तःकरण निर्मल, शान्त एवं प्रसन्न रहने लगेगा। जिससे भी कोई गुण मिले उसके प्रति हृदय में सेवा-भाव, आदरभाव एवं कृतज्ञता का भाव बना रहे तो बुद्धि स्थिर होती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु
विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा
प्रसादमधिगच्छति॥
—गीता २/६४

चंचलमन सदा विषयों की ओर दौड़ा करता है। मन यदि इन्द्रियों का साथ न करे तो इन्द्रियां विषय सुख अनुभव नहीं कर सकतीं। सुख, मान और प्रशंसा की इच्छा विष तुल्य विषय सुख है। विषय तृष्णा ही चंचलता तथा समस्त दुःखों का मूल है। अतः शान्त चित्त हुए बिना चित्त आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। राग और द्वेष के चक्कर से निकलकर इन्द्रियाँ यदि उस आत्म चैतन्य से अपना सम्बन्ध पक्का कर लेगी जो बुद्धि के अन्दर प्रकाश देने वाला है जिसकी शक्ति से आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, हृदय में स्पन्दन हो रहा है, तो हमारी बुद्धि विश्रान्ति पाकर आनन्दित हो जायेगी बुद्धि के आत्मभाव भावित होने पर फिर शरीर यात्रा के लिए किया गया विषय सेवन दुःखदायी नहीं बनेगा। जैसे आग को हाथ से

(शेष पृष्ठ २४ पर)

● श्री जे. कृष्णमूर्ति

—: क्रोध :—

[भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने काम, क्रोध और लोभ को नरक द्वार बताया है। सुविख्यात चिन्तक श्री कृष्णमूर्तिजी ने भी प्रस्तुत लेख में क्रोध के उत्पन्न होने और उसके शमन के कारणों पर विस्तार से विचार किया है। —सम्पादक]

इतनी ऊँचाई पर भी काफी गर्मी लग रही थी। खिड़कियों के शीशे भी गरम थे। वायुयान की घर्र-घर्र आवाज सुखद लग रही थी। और शायद इसी कारण बहुत-सारे यात्री ऊँघ रहे थे। नीचे दूर तक दिखाई देने वाली धरती गर्मी से तपकर पीली पड़ गयी थी। लेकिन बीच में ही कहीं एकाध हरियाली का टुकड़ा भी दिखाई दे जाता था। जल्दी हमारा वायुयान नीचे उतर गया। अब तो चारों ओर की असह्य उष्णता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी। वह उष्णता हमें शब्दशः झुलसा दे रही थी। इमारत की छाया में भी ऐसा लग रहा था, मानो सिर फट जायेगा। गर्मी के कारण आसपास का सारा क्षेत्र वीरान-सा बन गया था। थोड़ी ही देर में हमारा वायुयान पुनः चल पड़ा और मानो ठण्डी हवा की खोज में वह तेजी से ऊपर उठने लगा। सामने की सीटों पर दो नये यात्री बैठे थे। वे आपस में इतने जोर-जोर से बोल रहे थे कि उनकी बातों को न सुनना असम्भव था। उनकी बातचीत धीमी आवाज से शुरू हुई, लेकिन जल्दी ही उसमें तेजी और गरमागरमी आ गयी। ऐसा लग रहा था कि उनका यह क्रोध अति परिचय और आक्रोश की देन है। पूरी तरह क्रुद्ध होने के कारण वे शायद दूसरे यात्रियों को भूल ही गये थे। वे दोनों एक-दूसरे पर इतने अधिक चिढ़ गये थे कि उन्हें यह भान ही नहीं रहा कि यहाँ उनके अलावा और भी लोग हैं।

सबसे टूटकर अलग पड़ जाना क्रोध का विशेष गुण-धर्म है। दुःख की तरह क्रोध भी हमें सबसे तोड़कर अलग कर देता है। कुछ समय के लिए तो सारे रिश्तों और सम्बन्धों को वह मिटा ही देता है। सबसे टूटकर अलग हो जाने की भावना में जो तात्कालिक सामर्थ्य या ताकत रहती है, वह क्रोध में भी रहती है। उसमें एक प्रकार की विलक्षण विकलता भी होती है। सबसे टूट जाने की भावना ही विकलता है। आशा-भंग, मत्सर अथवा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की लालसा के कारण क्रोध का जो भभका होता है, उससे भीतरी क्षोभ को अपने आप खुली राह मिल जाती है। इस भभके के द्वारा मनुष्यको अपना औचित्य सिद्ध करने का सुख मिलता है। हम दूसरों को धिक्कारते हैं और यह धिक्कार ही यह बताती है कि हम जो कुछ कर रहे हैं सो ठीक है। सामान्यतः हममें दो में से एक भावना प्रबल होती है—या तो आत्मप्रशंसा की अथवा आत्मनिन्दा की। अपने अहंभाव

को अधिकाधिक प्रतिष्ठा दिलाने के लिए हम प्रत्येक बात का साधन के रूप में उपयोग करते हैं। यथा की भाँति क्रोध भी उसकी अभिव्यक्ति का सरलतम साधन है। क्रोध दो प्रकार का होता है—तत्काल उपजने वाला और शीघ्र ही भुला दिये जाने वाला क्रोध साधारण होता है। दूसरा होता है असाधारण क्रोध। यह क्रोध खास तौर पर पुष्ट किया जाता है, मद्यार्क की तरह उबाला-छाना जाता है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए अथवा उनका सर्वनाश करने के लिए समझ-सोचकर सवर्धित किया जाता है। यह क्रोध पहले से भिन्न होता है। साधारण क्रोध का कारण प्रायः दैहिकीय होता है जिसे देखा भी जा सकता है और उसका इलाज भी किया जा सकता है। लेकिन मानसिक कारणों से उत्पन्न क्रोध का स्वरूप अधिक सूक्ष्म होता है और उसका निराकरण करना बड़ा कठिन होता है। हममें से अधिकांश लोग क्रोध को चिन्ता का विषय नहीं मानते। अपने क्रोध के लिए हम कोई न कोई बहाना पेश कर देते हैं। हम पूछते हैं कि हमारे या दूसरे के प्रति कोई दुर्व्यवहार करेगा तो हमें क्रोध क्यों नहीं आयेगा? इस प्रकार हम न्यायपूर्वक क्रुद्ध होते हैं। 'हमें क्रोध आया है' इतना ही कहकर हम चुप नहीं रह जाते, बल्कि यह क्रोध क्यों आया, उसके लम्बे-चौड़े स्पष्टीकरण भी हम देते रहते हैं। हमें किसीके प्रति मत्सर हुआ है अथवा कटुता का हम स्पष्टीकरण करते रहते हैं और उसका कारण बताते रहते हैं। प्रेम मत्सर के बिना कैसे सम्भव है, यह पूछते हुए हम मत्सर का समर्थन करते हैं। इसी तरह हमारे मन की कटुता के लिए दूसरे के कुछ विशिष्ट कृत्य कारणीभूत हुए हैं, ऐसा बताकर हम अपनी कटुता का समर्थन करते रहते हैं।

हम अपने क्रोध का यह जो मूक या मौखिक समर्थन, स्पष्टीकरण या मूल्यांकन करते हैं, उसी के कारण वह पोषित होता है, उसका विस्तार होता है और उसकी गहराई बढ़ती है। फिर यह मूक या मौखिक स्पष्टीकरण या समर्थन हमारी ढाल बनता है और हमारे सही चित्र को उभरने नहीं देता। मनुष्य को सदैव ऐसी अपेक्षा रहती है कि लोग उसकी स्तुति करें, उसकी खुशामद करें। और हमें जब इनमें से कुछ भी नहीं मिलता, तब हम निराश होते हैं, हममें कटुता भर जाती है अथवा हम मत्सरग्रस्त बनते हैं। तब चाहे नम्रतापूर्वक धीरे-धीरे कुढ़-कुढ़ाकर या आक्रोशपूर्वक जोर-जोर से चिल्लाकर हम दूसरों को दोष देने लगते हैं। हमारी कटुता के लिए दूसरे लोग ही कारणीभूत हैं, ऐसा हम कहने लगते हैं। अपने सुख के लिए, पद-प्रतिष्ठा के लिए अथवा आदर-सम्मान के लिए हमने इस प्रकार सतत् दूसरों को जीवन में विशेष महत्त्व प्राप्त करा दिया है। फिर दूसरों का रक्षण करना, उन पर अपना स्वामित्व प्रस्थापित करना अपरिहार्य हो जाता है। दूसरों का आसरा लेकर हम स्वयं से दूर भागते हैं, लेकिन जब ये दूसरे हमें छोड़ जाते हैं, तब हमें अपने सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं रहता। अपनी इस निराश्रित स्थिति का अतिशय भय लगने के कारण हम क्रुद्ध होते हैं। और, यह क्रोध निराशा, रोष, क्षोभ, आक्रोश, कटुता और मत्सर आदि अनेक रूप धारण करता है।

दीर्घकाल से संचित ऐसे क्रोध अथवा दीर्घद्वेष को क्षमाशीलता का अहङ्कार अवश्य हो जाता है। लेकिन क्षमाशीलता की अपेक्षा दीर्घकाल से संचित क्रोध अधिक

विशिष्ट है। संचित क्रोध न रहे तो क्षमाशीलता की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दीर्घकालीन क्रोध होने पर ही तो क्षमाशीलता आवश्यक हो जाती है। अगर हम पर-अपेक्षा छोड़ दें कि दूसरे हमारी खुशामद करें, दूसरों की ओर से पीड़ा पहुँचाने के शल्य को अगर हम निकाल दें और दूसरों के प्रति खास रूप से उदासीन रहने से जो कठोरता पैदा होती है, उसे भी हम अपने में न आने दें, तो फिर हमारे हृदय में करुणा उदारता और सदाशयता का निश्चय ही उदय होगा।

संकल्प द्वारा क्रोध दूर नहीं किया जा सकता। क्योंकि, संकल्प हिंसा का ही अंश है। संकल्प का जन्म वासना में से, कुछ विशिष्ट होने की अभिलाषा में से ही होता है। और अभिलाषा तो स्वभावतः ही आक्रामक और आधिपत्यपूर्ण होती है। इसलिए संकल्प द्वारा क्रोध का निरोध करने की बात सोचना क्रोध का एक-दूसरे स्तर पर और दूसरे किसी नाम पर रूपान्तर करना ही है। फिर भी इसमें आंशिक रूप में तो हिंसा रहती ही है। अहिंसा-वृत्ति का विशेष तौर पर संवर्धन करना हिंसा-वृत्ति से मुक्त होने का मार्ग नहीं है। उसके लिए तो अभिलाषा या वासना के स्वरूप को समझ लेना होगा। क्योंकि, वासना या अभिलाषा का कोई आध्यात्मिक विकल्प नहीं है। उसे न तो दबाया जा सकता है और न उसका उदात्तीकरण ही किया जा सकता है। तटस्थ वृत्ति से रुचि-अरुचि शून्य होकर वासना के स्वरूप का दर्शन करना चाहिए। तभी तटस्थ जागरूकता द्वारा अनुभविता, उसे कोई नाम दिये बिना, वासना अथवा अभिलाषा की प्रत्यक्ष अनुभूति कर सकेगा।

नई जीवन-व्यवस्था

सत्य एक और अविच्छेद्य है, अतएव विज्ञान, धर्म और राजनीति में सन्निविष्ट विरोधी भाव सामाजिक हित को हानि पहुँचाये बिना नहीं रह सकते। मूल तत्त्वों की विसंगति संशय, क्लेश, पाखण्ड और पराजय का भाव उत्पन्न करती है। उसमें निहित मानव-प्रयत्नों का अपव्यय हम सहन नहीं कर सकते। प्रकृति के जिस विधान को हम मानते हैं, जिस दर्शन पर हम विश्वास करते हैं और जिस राजनीति का हम व्यवहार करते हैं, उन सबको परस्पर अनुकूल और सुसंगत बनाना चाहिए। यदि हममें सत्य पर सच्ची श्रद्धा और मानव-सभ्यता के पुरातन स्रष्टाओं के साहस और पुरुषार्थ का कुछ भी अंश है, तो हमें इससे निराश नहीं होना चाहिए।

जो वस्तु विज्ञान के नाम से सिखाई जाती है और सत्य के नाम से पूर्णतया स्वीकार कर ली जाती है, उसे धर्म में भुला देने की अपेक्षा है। इतना ही नहीं, धर्म में जिस श्रद्धा को पवित्र और अनुल्लंघनीय माना जाता है उसे राजनैतिक कार्यों से अलग रखने और उनमें कोई योग प्रदान न करने देने की अपेक्षा की जाती है पर यह उचित नहीं है।

—अन्तर्यामी

● श्रीमती सरिता भारद्वाज, एम. ए., बी. एड., आचार्य

तनाव : कारण और निवारण

हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि हम आनन्द से ही उपजते हैं, और आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं। किन्तु आजकल यह बात कुछ असंगत-सी जान पड़ती है, क्योंकि हमारे जीवन का आजकल अनुभव यह है कि हमारा जन्म तनाव में ही होता है, तनाव लेकर ही हम जीते हैं और तनाव में ही प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। शहरों का जीवन हो या गाँवों का जीवन प्रातःकाल उठते ही पेट की ज्वाला शान्त करने या अपने मान-सम्मान की रक्षा के उपायों में हम कोल्हू के बैल की तरह जुट जाते हैं। और उन कार्यों में इतने उलझ जाते हैं कि जीना दूभर हो जाता है। हमारी दशा उस मृग की भाँति हो जाती है जो बहेलियों के जाल में ऐसा फँस जाता है कि 'ज्यों-ज्यों सुलझायो चाहत है, त्यों-त्यों उलझत जात।' शहरों में सुबह उठकर पानी भरने की चिन्ता, अखबार पढ़ने की चिन्ता, समय पर दुकान या दफ्तर जाने की चिन्ता, बिजली पानी टेलीफोन की चिन्ता आदि के समय पर बिल चुकाने की चिन्ता और इसी प्रकार के लेन-देन का हिसाब चुकता करने की न जाने कितनी चिन्तायें हमारे दिल और दिमाग को जकड़ लेती हैं। दूध लेने के लिए लाइन, बस में चढ़ने के लिए लाइन, यात्रा टिकट के लिए लाइन, राशन, मिट्टी के तेल के लिए लाइन और न जाने कितने तरह की लाइनों में खड़े होकर सुबह से शाम तक जिन्दगी को गुजारना पड़ता है। छोटे-छोटे बच्चों को स्कूल की पढ़ाई, घर में माता-पिता की डाँट, फटकार, अध्यापकों से भय, परीक्षा से भय, साथियों की प्रतिस्पर्धा, गृहकार्य के बोझ की चिन्ता, अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बाद भी जीविका के अनिश्चय की दुश्चिन्ता, नैराश्य, विमूढ़भाव पैदा करती है। इसी को तनाव कहते हैं।

तनाव बालक से लेकर वृद्ध तक, किशोर से लेकर किशोरियों तक, किसी न किसी रूप में व्याप्त दिखायी पड़ता है। बालिकाओं और उनके पिताओं को चिन्ता रहती है कि उनकी शादी कहाँ होगी, कितना दहेज देना होगा और उसका कैसे प्रबन्ध होगा, सब कुछ करने के बाद भी जलाकर तो नहीं मार दिया जायेगा। इस प्रकार अनेक प्रकार के अकारण चिन्तन तथा पूर्वानुमानों की कल्पनायें व्यक्ति को तनावग्रस्त बना देती हैं।

जब व्यक्ति की आवश्यकताओं और इच्छाओं की सहज, स्वाभाविक और सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, एवं भौतिक परिवेश से अनुकूल नहीं हो पाती तो असन्तोष पैदा होता है। असन्तोष ही मन के तनाव की स्थिति पैदा करने वाला कारण है। जब तनाव बढ़ने लगता है तो मन की चिन्ता शरीर के स्तर पर आने लगती है। रक्तचाप कम या ऊँचा होता है, हृदय का कार्य असामान्य हो जाता है, हाथ-पैरों में पसीना, कपाल पर पसीना, संकल्प शक्ति की कमी, भूख और नींद की कमी, थकावट और शरीर

का टूटना। कब्ज, सिरदर्द, स्नायु दौर्बल्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं। जब यह लक्षण कुछ समय स्थायी हो जाते हैं तो मधुमेह, अनिद्रा, खुजली, दाद, खाज, कुजली और छाती का दर्द, तपेदिक, साइटिका, नेत्र-विकार, श्रवणेन्द्रिय विकार आदि नाना प्रकार के रोग और उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं क्योंकि प्रकृति रोगों के माध्यम से तनाव की असहनीय दशा को बाहर निकालने का उपाय करती है। तनाव की स्थिति में शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। कोलेस्ट्रोल, पिट्यूटरी ग्रन्थि की स्राव असन्तुलित होने से पैन क्रियास, ऐड्रीनल ग्रन्थियाँ, तिल्ली, जिगर, हृदय की क्रियायें अस्त-व्यस्त होने लगती हैं। शरीर में विभिन्न अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के हारमोन्स शरीर को पोषण नहीं दे पाते जिससे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता घटती जाती है जिसके फलस्वरूप जल्दी-जल्दी रोगों का आक्रमण होने लगता है। व्यक्ति निराशावादी बन जाता है। विचार शक्ति कमजोर हो जाती है। भय, निराशा, संकोच, हीनभाव, मानसिक द्वन्द्व, पलायनवादी प्रवृत्ति, हर समय झल्लाना, चिड़-चिड़ाना, हर छोटी बात में भी शंका और अविश्वास करना। स्वभाव में चिड़चिड़ापन दिवास्वप्न देखने की आदत, आत्म-विश्वास का अभाव। दूसरों पर बहुत अधिक आश्रित होने की प्रवृत्ति झगड़ालू स्वभाव आदि मानसिक और शारीरिक परिवर्तन परिलक्षित होते हैं। ये लक्षण न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। जो समझदार लोग होते हैं तनाव दूर करने के लिए उनके कारणों की खोज करके उनके निवारण का उपाय करते हैं। किन्तु जो ऐसा नहीं कर पाते वे अधिक तनावग्रस्त होने पर या तो मदिरापान, धूम्रपान, या अफीम, भाँग, चरस, गाँजा, तम्बाकू, स्मैक आदि नशीले पदार्थों की बुरी आदतों के के शिकार हो आत्म प्रवंचना करते हैं। कुछ लोग नींद आने की गोलियाँ या मोर्फिया के इन्जैक्शन या डाक्टरों की दवाओं के चक्कर में पड़ जाते हैं। दवाओं से रोग के बाह्य लक्षण दबते रहते हैं और नये-नये रोग और लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति डाक्टर हकीम वैद्य या झाड़-फूंक, गण्डा-ताबीज वाले लोगों के चक्कर में फँसकर अपनी जेब कटवाता रहता है। जब इन सब उपायों से कारण का निवारण नहीं हो पाता तो निराशा और चिन्ता तथा तज्जन्य शारीरिक रोग मानसिक कुण्ठा का रूप धारण कर लेते हैं। ये कुण्ठायें व्यक्ति को उस सीमा तक ले जाती हैं जहाँ उसके जीवन में घोर निराशा और अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता जिससे उसकी सभी मानवीय संवेदनायें जैसे—दया, करुणा, वात्सल्य, स्नेह, परोपकार आदि क्षीण हो जाती हैं और जीवन से तंग आकर कहीं से छलाँग लगाकर या फाँसी लगाकर जीवन को नष्ट कर डालता है। उसे परम-पिता परमात्मा की इस असीम सृष्टि में व्याप्त सौन्दर्य अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। मयूर का नर्तन, चिड़ियों का कलरव, पुष्पों का खिलना और बच्चों का मचलना उसके जीवन को कोई अर्थ नहीं रखता। यदि वह अपने जीवन से बदला नहीं ले पाता तो प्रकृति के सौन्दर्य को नष्ट करने में जुट जाता है और पागलपन की अवस्था में जीने लगता है। अपने अभाव, तनाव और असन्तोष का कारण वह समाज में दूसरे लोगों के अन्दर देखने वाला बन जाता है। उनसे प्रतिरोध उनकी हत्या करके लेता है अथवा तोड़-फोड़

मजे लेता है अथवा किसी ऐसे आन्दोलन को कार्यान्वित होते देख वह प्रफुल्ल हो जाता है। हमारी भारतीय राजनीति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आज के राजनेता न स्वस्थ चिन्तन करते हैं और न अपनी बुद्धि का सही प्रयोग करते हैं। वे ऐसे आन्दोलन छेड़ते हैं जिससे उनके स्वार्थ की पूर्ति हो सके, चाहे इस हेतु कइयों को बलि ही क्यों न देनी पड़े। इस सबके मूल में अस्वस्थ चिन्तन से उत्पन्न तनाव है।

निवारण—तनाव मुक्ति के लिए सर्वप्रथम व सर्वोपरि उपाय है—स्वस्थ चिन्तन का विकास। इससे मन में निर्मल विचारों का प्रवाह होगा। ईश्वर से सदैव शिव-संकल्प की प्रार्थना करनी चाहिए, किसी को अहेतुकी नहीं। हर निष्कामी मन से सतत् अपनी संकल्प-शक्ति का विकास करना चाहिए। इससे मन में दृढ़ता आती है। तनाव मुक्ति के लिए योग के प्रश्रय से श्रेयस्कर कोई उपाय नहीं है अष्टांग योग के जप और ध्यान एकाग्रचित्त होकर करने से मन में अपूर्व शक्ति आती है। इसके अतिरिक्त शिथिलीकरण, अनुलोम-विलोम तथा भस्त्रिका प्राणायाम करने से भी चिन्तन स्वस्थ व ईश्वर-परायण होगा।

साधारण व्यक्ति जो योग की इन गहराइयों में जाने में असमर्थ है उसके लिए वे दोनों उपाय उत्तम व अनुकरणीय हैं। तनाव युक्त मन के लिए कोई प्रेरणादायक साहित्य का स्वाध्याय करे तो अवश्य ही उसे आत्म-शान्ति की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त कीर्तन, भजन व सत्संग से जब साक्षी भाव अथवा दृष्टाभाव का विकास हो जाता है तो ईश्वर परायण वृत्ति इतनी बलवती हो जाती है कि अस्वस्थ चिन्तन हो ही नहीं सकता। शशांकासन, योगमुद्रासन, पद्मासन, त्रिकोणासन, शवासन, योगनिद्रा ऐसे आसन हैं जो शरीर के साथ-साथ मन को भी स्वस्थ रखते हैं। नेति-क्रिया, नौली व नासिका से दुग्धपान करने से मस्तिष्क का सारा मल दूर हो मन में विशुद्ध विचारों का सतत् प्रवाह चलता रहता है। अपनी परिस्थिति का विश्लेषण कर हर हाल में आत्म-विश्लेषण करने वाला हर हाल में मस्त रहता है। सन्तोष जीवन की सबसे बड़ी पूंजी जिसने इस पूंजी का संचय कर लिया, उसके जीवन में तनाव के प्रसंग आने पर धैर्य और सन्तोष उसके साथी बनकर तनाव को तत्क्षण दूर भगा देंगे। योग-दर्शन में इसलिए सन्तोष के बारे में कहा गया है 'सन्तोषदनुत्तम सुखलाभः'।

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुआं बेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिये, वे शाह न के शाह॥

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

-: गुरु से कपट मित्र से चोरी ! :-

गुरु को अपना सुख-दुःख स्पष्ट बता देना चाहिए। तुम गये डॉक्टर के पास और उससे कहा—"आप तापमान ले लें, धड़कन देख लें, स्वयं परीक्षा करके देख लें कि मुझे क्या रोग है।" डॉक्टर परीक्षा करके जान भी सकता है। तुम स्वयं साफ-साफ कष्ट बतला दो तो तुम्हारी चिकित्सा अधिक ठीक होगी। इसलिए गुरु से अपने हृदय की समस्या छिपाना नहीं चाहिए।

अर्जुन यदि श्रीकृष्ण से अपने हित की बात छिपा लें तो श्रीकृष्ण अपना ज्ञान क्यों नहीं छिपायेंगे और प्रकट भी करें तो वह ज्ञान कैसे अज्ञान का परदा फाड़ सकेगा; क्योंकि वहाँ तो कपट का परदा पड़ा है, अपने मुख पर स्वयं परदा डाल लिया तो दूसरा क्या करे।

कौरवों की सभा में जब दुःशासन द्रौपदी की साड़ी खींचने लगा, तब द्रौपदी ने पुकारा—

"गोविन्द द्वारिका वासी
कृष्ण कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न
जानासि केशव।"

द्रौपदी की पुकार सुनकर भगवान दौड़े आये, किन्तु खड़े रह गये; क्योंकि उसने दोनों हाथों से पूरा बल लगाकर साड़ी पकड़ रखी थी। यह चीर का पकड़ना श्रीकृष्ण अवतरण में बाधा बन गया अतः अपना बल, अपनी विद्या का भरोसा छोड़कर पूरा हृदय खोल दो गुरु के सामने रख दो। इसीको आत्म निवेदन भी कहते हैं।

गुरु हमारे हितैषी हैं, शुभ-चिन्तक हैं, उनसे कभी हमारा अमंगल नहीं होगा। यदि इतना भी भरोसा न हो तो गुरु बनाया ही क्यों? अतएव अर्जुन अपने हृदय का दुःख खुलकर निवेदन करता है।

कथं भीष्ममहं संख्ये
द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि
पूजार्हावरिसूदन॥ गीता २/४

अर्जुन कहते हैं "मधुसूदन, मैं युद्ध पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण के साथ बाणों से प्रतियुद्ध कैसे करूँगा? शत्रुनाशन! ये तो पूजनीय हैं।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को दो सम्बोधन दिये—मधुसूदन और अरि सूदन! इसका तात्पर्य है कि "श्रीकृष्ण! मैं जानता हूँ कि आप पराक्रम के पक्षपाती हैं। मुझे आपका यह सिद्धान्त ज्ञात है कि आप दैत्यों और शत्रुओं का नाश करना चाहते हैं। मुझे यह भी पता है कि आपका यह अवतार ही दुष्टों

के संहार के लिए हुआ है "विनाशाय च दुष्कृताम्"।

आपने मधु जैसे दैत्यों को मारा है। पूतना, तृणावर्त केशी का संहार किया। कंस, शिशुपाल आपके सम्बन्धी थे, किन्तु शत्रु थे, इसलिए उन्हें भी आपने मारा, लेकिन मुझे किन का वध करने को कहते हैं? निसाल कंवल कालनेमि जैसे सहस्त्रों दैत्यों का संहार करने को मैं प्रसन्नतापूर्वक उद्यत हूँ, किन्तु ये पितामह भीष्म, ये द्रोणाचार्य! ये कौन? ये न दैत्य हैं और न शत्रु।

पितामह भीष्म के कारण ही हमारा वंश-वृक्ष चला है। अम्बा आदि का हरण करके यही ले आये। भगवान व्यास से प्रार्थना करके धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उन्होंने ही उत्पन्न कराया। ये हमारे पितामह हैं, आजन्म ब्रह्मचारी हैं, परम धर्मज्ञ हैं, ब्रह्मवेत्ता ही नहीं हैं, दूसरों को ब्रह्मज्ञान देने वाले हैं। इस प्रकार अपने वंश वृक्ष के मूल पुरुष भीष्म, जो देवता सदृश हैं, श्रुति जिन्हें "भीष्मोऽहि देव" कहती है, उनके और ज्ञान रूप के मूल आचार्य द्रोण के मैं युद्ध में कैसे सम्मुख होऊंगा?

"संख्ये" युद्ध में उनके सम्मुख कैसे होऊं? संख्या शब्द भी उसी धातु से बना है जिससे संख्या की स्थापना भी खण्डनात्मक ही है। जैसे, वर्ण कितने होने चाहिए? उसमें तीन या कम क्यों नहीं और पांच या अधिक क्यों नहीं, यह स्थापना करके, तीन और पांच दो का खण्डन करके ही चार वर्ण संख्या स्थापित होगी, तो जैसे एक संख्या दूसरी को काटकर ही अपना अस्तित्व बनाती है, वैसे ही "संख्ये—युद्ध भूमौ" युद्ध भूमि में भी दूसरों को मारकर काटकर ही अपना स्थान बनाया

उनके प्रति टुकड़े-टुकड़े कर देने की हिंसक भावना उत्पन्न करने वाली "संख्ये" युद्ध भूमि में तो भी अपराध है।

"संख्ये" यह शब्द जोर देता है कि गुरुजनों से वाद-विवाद में भी सम्मुख होना अनुचित है। "गुरु हुं कृत्य त्वं कृत्य" गुरु के साथ हुंकार करके या उन्हें "तुम" कहकर भी बोलना उचित नहीं। वे तो "पूजार्हौ"। पूजा करने योग्य हैं।

उनका सम्मान करना चाहिए। "इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि" उनके बाणों के द्वारा प्रति युद्ध मैं कैसे करूंगा? जिनसे वाणी से विवाद भी अनुचित है, उनसे बाणों द्वारा संग्राम कैसे किया जायेगा।

प्रतियोत्स्यामि" अर्जुन मल्ल युद्ध की बात नहीं करते अपनी ओर से पहले बाण मारने की तो कल्पना ही उसके मन में नहीं है। वह तो कहते हैं कि प्रतियुद्ध भी कैसे करूंगा? भीष्म पितामह या द्रोणाचार्य मुझे बाण मारेंगे तब भी मैं बदले में उन पर कैसे बाण चलाऊंगा? वे तो पूजा करने योग्य हैं। उनके लिए तो मैं अपना मस्तक भी दे सकता हूँ। उन पर बाण चलाना पड़े, इसकी अपेक्षा तो उनके बाणों से मेरा मर जाना भी कल्याणकारी होगा।

यदि माम प्रतीकारमशस्त्र
शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे
क्षेम तर भवेत्॥

"पूजार्हौ" ये पूजनीय हैं। यहाँ अर्जुन में विवेकाभास जागा है। मोह का यह भी एक लक्षण है कि जब वह आता है तो मनुष्य अपने को बड़ा विवेकी—बुद्धिमान समझने

तब तो मनुष्य उसे पहचान ही लेगा और दूर करने की चेष्टा करेगा; लेकिन मोह आता है विवेक बनकर। मनुष्य को अपना मोह जन्य निर्णय ही उचित कर्त्तव्य जान पड़ने लगता है। अर्जुन के साथ यही हुआ है।

अर्जुन कहता है—"श्रीकृष्ण आप कहते हैं कि मुझमें यह दुर्बलता अकारण आयी है; किन्तु यह अकारण नहीं है; इसका कारण है। अपने भले ही दैत्य और शत्रु मारे हैं; किन्तु ये भीष्म, द्रोण, कृप तो पूजनीय हैं। इनसे युद्ध न करने का निर्णय उचित है।

आप कहते हैं, अनवसर में मुझमें यह दुर्बलता आयी है; किन्तु युद्ध न करने का निश्चय तो युद्ध-भूमि में ही किया जाना चाहिए। 'इषुभि-प्रतियोत्स्यामि' इनसे बाणों से युद्ध करूँ या न करूँ, यह निर्णय करने का तो यही ठीक अवसर है।"

शौच क्या ?

शौच तु द्विविध प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां हि बाह्यं तु मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

शौच—दो प्रकार का होता है—एक बाह्य और दूसरा आभ्यान्तर। मिट्टी और जल आदि से जो शुद्धि की जाती है वह 'बाह्य-शुद्धि' कहाती है और जो मन की शुद्धि होती है वह 'आभ्यन्तर भीतर की शुद्धि' कहाती है।

इस लक्षण में यद्यपि बाह्य शुद्धि के लिए साधन का प्रतिपादन कर दिया गया है; पर मन की भीतरी शुद्धि के विषय में कुछ भी नहीं कहा इसलिए आपका दूसरा श्लोक लिखता हूँ:—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥

—याज्ञवल्क्य.

'जल' से तो शरीर का बाहरी भाग शुद्ध होता है और 'सत्य' से मन की शुद्धि होती है, यानी शरीर का आन्तरिक भाग शुद्ध होता है। एवं विद्या और तप द्वारा जीवात्मा की शुद्धि होती है तथा तत्त्वज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है।

दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और सार्वकालिक पूर्ण सुख की प्राप्ति बाह्य-शुद्धि द्वारा नहीं हो सकती। इसलिए मन, बुद्धि का शुद्ध करना ही आवश्यक बताया गया है।

—योगशास्त्र

श्री जवाहिरलाल जैन

—: चित्त की शुद्धि :—

चित्त में अस्वाभिवकता का आ जाना अशुद्धि है। संकल्प की उत्पत्ति व उसकी पूर्ति की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेना अस्वाभाविकता है। इसके प्रभाव से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। संकल्प पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प-अपूर्ति का भय मिट जाने पर संकल्प उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नहीं रहती है। तद्रूपता के मिटते ही चित्त स्वतः शुद्ध होने लगता है। प्रश्न होता है कि संकल्प क्या है? वस्तुओं की सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता का आकर्षण ही संकल्प का स्वरूप है, अतः संकल्प-रहित होने के लिए आवश्यक है कि सभी वस्तुओं से—शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि तथा यह सृष्टि—इनसे अपने को विमुख कर लिया जाय। वस्तुओं के द्वारा सुख की आशा ने संकल्प को जन्म दिया है और संकल्प-पूर्ति ने वस्तु को महत्व प्रदान किया है।

शरीर रूपी वस्तु में अहम्-बुद्धि हो जाने पर वस्तुओं की कामना स्वतः उत्पन्न होती है। शरीर से तद्रूप हो जाने पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न हो जाती है। यह अविवेक है। अविवेक से ही संकल्प और वस्तु में सत्यता की स्थापना होती है। अविवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पों की निवृत्ति होते ही सुख-दुःख से अतीत शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्तुओं का संग करने से चित्त अशुद्ध हो गया है, जिसके होने से जीवन पराधीनता, जड़ता आदि दोषों में आबद्ध हो गया है। इसी कारण चित्त-शुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है और उसे वर्तमान में ही हल करना है।

स्वभाव में चित्त कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। अतः चित्त में जो अशुद्धि भासती है, वह उसके किसी अंशमात्र में है। पहला काम चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज है। यह खोज चित्त-शुद्धि का प्रश्न है और उसे वर्तमान में ही हल करना है।

जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है, वह नित्य है, स्वाभाविक है; भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, आध्यात्मिक दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति है। हमें उस ज्ञान का आदर करना चाहिए। उससे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो तो बड़ी सुगमतापूर्वक चित्त-शुद्धि की साधना में सफलता प्राप्त हो जाती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों के त्याग से चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। इसका उपाय यह है कि आवश्यक संकल्पों

को परिस्थिति के अनुसार, पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर कर्तव्य कर्म पूरा करना चाहिए। आवश्यक संकल्प वही है—(क) जिसको पूरा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, (ख) जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, (ग) जिसको पूरा किये बिना हम किसी प्रकार न रह सकें, (घ) जिसको पूरे होने से किसी का अहित न हो। पवित्र तथा आवश्यक संकल्पों की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ करते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पों का प्रवाह बड़े वेग से उठने लगता है। इस दशा में उसे इनसे असहयोग करना चाहिए और समझना चाहिए कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओं के प्रभाव से दबे हुए संकल्प मिटाने के लिए उठ रहे हैं।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान तभी होता है, जब चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। चित्त की चंचलता और मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता का साधन है, क्योंकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारों का बोध होता है, उस ज्ञान में चित्त को निर्विकार बनाने का सामर्थ्य विद्यमान है।

अपनी-अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मानकर कर्तव्य-परायण होकर अशुद्धि का अन्त कर देता है। कोई उस ज्ञान को निज विवेक का प्रकाश मानकर अविवेकजन्य अशुद्धि का अन्त करने में समर्थ होता है। कोई उस ज्ञान को अनन्त की अहैतुकी कृपा शक्ति मानता है और उसी का आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है।

गुणों के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है, क्योंकि गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे वैरभाव उत्पन्न हो जाता है, जो समस्त संघर्षों का मूल है। व्यक्तित्व की दासता मनुष्य के अधिकार-समस्त संघर्षों का मूल है। व्यक्तित्व की दासता मनुष्य को अधिकार-लालसा में आबद्ध कर देती है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गयी तो राग में आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नहीं हुई तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। राग और क्रोध दोनों ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणों के अभिमान को गलाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक पर-दोष-दर्शन से विमुख हो निज दोष जानने का प्रयत्न करे। पर दोष-दर्शन करने वाली दृष्टि सीमित गुणों को महत्त्व देने से ही उत्पन्न होती है। गुणों का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। साधक को अपने में गुणों का भास तभी होता है, जब उसकी दृष्टि दूसरों की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणों का प्रादुर्भाव होने पर उसका भास नहीं होता।

गुणों के अभिमान के आधार पर ही अहंभाव जीवित है। अपने सुख में सुखी होना और उसी के लिए ऊपर-ऊपर से गुणों का लेप चढ़ाना, जिससे व्यक्तित्व की पूजा में क्षति न हो, परन्तु अपनी दृष्टि में अपने को पूजा के योग्य न पाना, फिर भी दूसरों से पूजा की आशा करना—इसी प्रमाद से अहं-भाव पोषित होता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि में आदर योग्य बने रहने के लिए प्रयत्नशील रहे तो अहंभाव की दासता और गुणों के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब वह अपने जाने हुए दोषों का त्याग करने में सदा तत्पर रहे।

जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो,

किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी दोष हैं। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके सभी दोष मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थान-भेद से भिन्न प्रकार का भासता है। ऐसे किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं। अपना दोष ही किसी में महत्त्व का दर्शन नहीं कराता है और अपने अभिमान से ही किसी में दोष भासता है। अतः जाने हुए दोष को त्याग, गुणों के अभिमान से रहित, अहंभाव की दासता से मुक्त होकर चित्त शुद्ध कर लेना चाहिए।

चित्त की अशुद्धि का एक कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश में अपने में कोई दोष पाते हैं तो अपने प्रति वह न्याय नहीं करते, जो उसी दोष में दूसरों के प्रति करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढ़तापूर्वक चित्त में अंकित हो जाता है। दोषजनित सुख के बदले में उससे कहीं अधिक दुःख का हर्षपूर्वक अपना लेना न्याय का प्रथम अंग है। न्याय के इस प्रथम अंग का उपयोग हम दूसरों पर तो बड़े सहजभाव से करने लगते हैं, पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दुःख के अपनाने में भयभीत होते हैं। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपने को क्षमा करने की बात सोचते हैं। ऐसा करने से अपने व्यक्तित्व का मोह दृढ़ हो जाता है, जो दोषों का मूल है और अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न करता है। अतः हमें अपने प्रति न्याय ही करना है।

न्याय का दूसरा अंग है किये हुए दोष को न दुहराना। यह अंग अपने प्रति तभी सम्भव है, जब न्याय के प्रथम अंग को अपना लिया जाय। जब दुःख इतना बढ़ जाता है कि सुख का राग मिट जाय, तब दोष न दुहराने की दृढ़ता स्वतः आ जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ़ हो जाती है, जो न्याय का तीसरा अंग है।

अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नहीं है, न अपना विनाश करना है और न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है, असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद से राग-द्वेष नहीं रहता। राग-रहित होने से सुखासक्ति मिटती है और द्वेषरहित होने से क्रोध का नाश हो जाता है। सुखासक्ति मिटने से दोषों की पुनरावृत्ति नहीं होती और क्रोध-रहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमें अपने मन के ही साथ करना है। जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाय, वैसे-वैसे न्याय क्षमा में बदलते जाना चाहिए। क्षमा अपने और विपक्षी के बीच में निर्वैरता की स्थापना करती है, जिसके होते ही अपनी ओर से बुराई के बदले में भलाई स्वतः होने लगती है और अपने प्रति होने वाली बुराई की विस्मृति हो जाती है।

जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अशुद्धि का दर्शन हो तब उसे इनके प्रति न्याय करना चाहिए, अर्थात् उनसे विवेकपूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करने ही वे स्वतः शुद्ध हो जायेंगे। कारण कि जिस वस्तु में ममता नहीं रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। जो अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा से स्वतः शुद्ध हो जाती है।

● स्वामी श्री निर्गुणानन्द जी

मन क्या है ?

[साधना प्रिय शिष्यों को आचार्य का परामर्श]

हे सौम्य ! मन संकल्पों, का मूल-बीज रूप है। सब जीवों को चलाने के लिए इस मन को प्रभु ने रचा है। यह मन दस इन्द्रियों का राजा है। बन्ध और मोक्ष का कारण है। यह मन ही बन्धु, गुरु और मित्र बनाने वाला है। इस मन का स्वरूप बहुत सूक्ष्म अणु जैसा है। मन की गति वायु से अत्यन्त बलवान् है, यह मन ही कभी-कभी बुद्धि का रूप धारण करके, सूक्ष्म और निश्चय विचार करने लगता है। कभी चित्त, कभी अहंकार बनकर कार्य करता है। मन से तुम अलग हो। यह मन, तुम्हारे बल से ही, चलता है। तुम्हारे बल के बिना कुछ कर ही नहीं सकता, यह भावना आते ही तुम जहाँ पर चाहो वहीं पर रोक सकोगे।

हे सौम्य ! यह मन अनुकूल प्रतिकूल दुःख और सुखों का मूल कारण है। जाग्रत और स्वप्न में सुख-दुःखों को देने वाला मन ही है। यह मन ही अनेक शंका समाधानों में तुम्हें नाच नचाता है। यह मन ही भक्ति, शक्ति, विरक्ति, अनासक्ति और मुक्ति देता है। धर्म में लगाने और हटाने वाला मन ही है। वेद शास्त्र गुरु, विद्वान् माता, पिता और सन्तों में विश्वास करना या न करना इस मन का ही कार्य है यह मन आँख की भी आँख है। नाम सुनते ही उस नामी पदार्थ को देख ही लेता है। फिर वह पदार्थ कितना भी दूर और गुप्त क्यों न हो। यह मन ज्ञान स्वरूप है। सभी दस इन्द्रियों से शीघ्र-शीघ्र कार्य कराता है और उनको ज्ञान भी कराता है। यह मन एक है अनेक नहीं है। यह मन जिस रूप में अधिक देरी ठहर जाय, वह रूप कितना ही दूर हो, उसी रूप को धारण कर लेता है जिसको स्मरण करता है वही रूप हो जाता है। चाहे वह भूत, प्रेत, देव, राक्षस, राम, कृष्ण का रूप हो क्यों न हो।

इतना ही नहीं इस मन से जैसे मानोगे, वैसे ही चमका देता है। चाहे नतीजा कुछ भी हो। इस मन का ही चमत्कार है, लौकिक शुभाशुभ, धर्मा-धर्म, मतान्तर दृश्य प्रपंच मन का ही पसारा है। तीनों गुणों की धाराएं मन के संकल्पों में से ही निकलती हैं।

इन गुणों-वृत्तियों को सदा ध्यान से देखने पर, सात्विक हो जाओगे। तीनों गुणों से रहित भी हो सकते हो। इस मन की पाँच अवस्थाएं हैं। ये पाँच अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं। (१) ईश्वर में नास्तिकता, अश्रद्धा धर्म में, सांसारिक भोग सुख में ही सुख मानना, यह मन की अवस्था घोर तामस, क्षिप्त अवस्था है (२) ईश्वर, धर्म, और पुनर्जन्म मान कर भी उन नियमों को स्व जीवन में न ला सकना, सांसारिक विषय सुख में लिप्त होना, यह मूढ अवस्था है और तामसी राजसी है (३) भोग ऐश्वर्य, मान, धन, जन आदि के अहंकार में रहकर परमार्थ को भूलना मन रजो गुण की विक्षिप्त अवस्था है (४) सत

कर्ता और भोक्ता के अहंकार को छोड़कर, कामना, आसक्ति को छोड़कर, अनित्य, अशुद्ध और दुःखमय असार को प्रिय मानना, ईश्वर के अमृतमय स्वरूप में एकाग्र रूप हो जाना एकाग्र अवस्था है। यह सात्विक है (५) मन सच्चिदानन्द स्वरूप में धारणा ध्यान से तदाकार हो तथा तदाकार वृत्ति का भी रुक जाना, निरुद्धावस्था है । ये पाँचों मन की अवस्था हैं।

हे सौम्य ! इन पाँचों अवस्थाओं में एकाग्र और निरुद्ध ये दोनों अवस्थाएँ अपने जीवन में लाना जरूरी है। परमार्थ का लाभ इन उत्तम दो अवस्थाओं से ही हो सकेगा। यही अमृत है। सत्संग स्वाध्याय रूपी साबुन से मन रूपी वस्त्र को धो डालो। समय देकर मनन रूपी, पानी अधिक डालो। भगवान का प्रेम झाग बनकर बहने लगे। अमृत के अभ्यास रूपी निर्मल जल में मन को डुबा दो। चिन्ता, राग, द्वेष, भय, कामना, ईर्षा और अहंकार आदि मन के मल धुल जाँय। इस शुद्ध मन ही से अमृत के मन्दिर में पहुँच सकोगे। जिसने मन को वश में कर लिया है उसने अवश्य अमृत को पा लिया है समझो। जो मन के वश में हो गया वह समझो मृत्यु को प्राप्त हो गया है। यहाँ पर एक दृष्टान्त सुनो!

एक आदमी ऊँट के ऊपर सवार होकर जा रहा था। जाते-जाते ऊँट के नाक की नकेल टूट गयी थी। नकेल के बिना ऊँट रुकता नहीं था। रास्ता छोड़कर, बेतुका कूदता जा रहा था। घने वृक्षों में, काँटों के झुण्डों में घुस कर चला जाता था। ऊँट के बेतुका जाने से सवार का शरीर झाड़ी और चोटों से घायल हो गया था। इतने पर भी, ऊँट के स्वामी, सवार को विश्वास था कि मेरी बात अवश्य मानेगा, क्योंकि मैंने इसको खिला पिलाकर पाला था। मेरी बात मानकर कहीं पर रुक जायेगा। इस विचार से ऊँट को इशारे से पुचकार कर समझाया। परन्तु स्वामी की एक बात भी नहीं मानी। ऊँट कैसे मान सकता है! ऐसी स्वतंत्रता आज तक मिली ही नहीं थी। आज बड़े भाग्य से आजादी मिली है इस आजादी में उजाड़ करने का, मन माने खेतों को बरबाद करने का समय मिल गया। ऊँट का नकेल टूटा और भाग्य खुल गया। यही ऊँट समझने लगा कि अब तक मेरे भाग्य ने काम नहीं दिया था, आज मेरा अहोभाग्य में बदल गया है।

उस समय सवार-घबड़ाकर, लोगों को पुकारने लगा कि मेरे ऊँट को पकड़ कर रोक दो। सुनकर भी क्या कर सकते थे। यात्री की स्थिति को देखकर सब हँसने लगे। यात्री तो खुद रोक नहीं सकता मरने का डर था। दूसरे भी ऊँट को रोक नहीं सकते उसके नकेल नहीं थी, कैसे रोकते, सवार अनेक चोट खाकर घोर हा-हाकार कर रहा था, परन्तु कोई क्या करे। ऊँट जहाँ पर भागा, वहाँ पर यात्री को भी भागना पड़ा। इस पराधीनता में यात्री भी, क्या करता! जाते जाते एक पुराने कुँए में ऊँट ने हरी-भरी घास देखी। उस हरी घास को, खाने के लिए ऊँट कुँआ की तरफ आगे बढ़ा। आगे बढ़ते ही सवारी को लेके, कुँआ की गहराई में ऊँट चला गया।

इस दृष्टान्त से यही शिक्षा मिलती है कि मन की पराधीनता में रहने वालों की दशा, ऊँट और सवार की सी दुर्दशा जैसी होती है।

हे सौम्य ! यह दशा संसारी जीवों की है। परन्तु परमार्थी की नहीं। मन को वश में करके एकाग्र करते हैं ऐसा साधन करने वाले

कार्यार्थी है। अनुकूलता प्रतिकूलता, सब ईश्वर के ऊपर छोड़कर, साधन करते है, वे ही कार्यार्थी कहाते हैं। अतः शोक मोह छोड़कर, एकाग्र मन से साधन करो। अवश्य सफलता मिलेगी।

जैसा मन का संसर्ग होता है वैसा ही मन बन जाता है। जैसे स्वाति नक्षत्र की वर्षा की बून्द, सीपी में पड़ने पर मुक्ता, बाँस में पड़ने पर वंश लोचन, केला के पेड़ में कपूर हो जाती है, इसी प्रकार मन भृकुटि के ज्योति में जाते ही ज्योतिर्मय हो जाता है।

हे सौम्य! इस भृकुटि का ध्यान, प्रातः सायं रोजाना आधा घण्टा, करो। इस ध्यान को ऐसा परिपक्व बना दो कि जब, जहाँ भी बैठ के, ध्यान करे तो, उस भृकुटि की ज्योति में मन सरलता से लग जाय। उस ज्योति से, मन न हटे तब तक, जब तक तुम मन को नहीं हटाओ। ऐसी स्थिति हो जाय तो समझो साधन पक्का है। साधन चालीस दिनों तक पक्का कर लेना चाहिए। इस भृकुटि में मन एकाग्र करने के बाद ब्रह्मरन्ध्र में एकाग्र करना होगा।

हे सौम्य! इस भृकुटी और ब्रह्मरन्ध्र के ध्यान करने से आरम्भ में सिर में भारीपन और दर्द होता है। प्राण से जप करने से शरीर का भान होता है। जिह्वा की नोक, काग में मिलाकर जप करने से चंचलता हट जाती है। अधिक अभ्यास से, कपाल गुहा के आकाश में उस ज्योति का निरीक्षण करोगे। प्राणाग्नि नाड़ियों में प्रवेश करते हुए, मलों को जलाते हुए देखोगे। इसके अनुभव के बाद ही, शरीर का भारीपन भानु होना और सिर दर्द होना स्वयं बन्द हो जायगा। यही अमृत है।

इन वचनामृत बिन्दुओं का आस्वादन करके जिज्ञासु प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! हे देव! दूसरा कमल, ब्रह्मरन्ध्र सोपान का वर्णन करके हमें वहाँ पहुँचा दीजिए। क्योंकि भृकुटी में ध्यान सरल बना दिया है। अब ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान सरल बनाना है। अतः कृपा करके ब्रह्मरन्ध्र के गुप्त रहस्य का वर्णन कीजिए। प्रार्थी की प्रार्थना सुनकर, आचार्य कहने लगे कि हे सौम्य! अब आपको दूसरा सोपान ब्रह्मरन्ध्र के वर्णन से ध्यान सुधर जायेगा। मन प्रसन्नता से एकाग्र होगा। अमृत का आस्वादन करोगे। समझ जाओगे कि अमृत क्या है?

क्रमशः

भावी जीवन का आधार

हमारे भावी जीवन का आधार गुणावृत्ति कैसे होती है। इस सम्बन्ध में नीचे लिखा मत पठनीय है:

'जिस व्यक्ति की मृत्यु सत्त्व गुण की वृद्धि में होती है, वह उत्तम कार्य करने वालों के दिव्य स्वर्ग आदि लोकों में जाता है। और जिसकी मृत्यु रजोगुण की वृद्धि में होती है वह कर्मों में आसक्त रहने वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है। और जिसकी मृत्यु तमोगुण की वृद्धि में होती है वह पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि की मूढ़ योनियों में जाता है।' [जो व्यक्ति इन गुणों को जीत लेता है वह तो साक्षात् परमात्मा को ही प्राप्त होता है।]

पूर्व प्रकाशित से आगे :

बन्ध और मोक्ष का कारण

● डा० गयाप्रसाद शर्मा

मन बन्ध और मोक्ष दोनों का ही ही कारण है यह मन रस्सी की तरह है रस्सी को गले में बांधकर फांसी भी लगायी जा सकती है और गहरे कूप से रस्सी के द्वारा बाहर भी निकाला जा सकता है यह मन परमपिता परमात्मा की तरफ लगेगा तो स्वयं को परमात्मा बना देगा और अगर माया की तरफ लगेगा तो अधोगति को पहुँचा देगा। रहीमदास जी ने एक दोहे में कहा है—

रहिमन मनहि लगाइ कै, देखि लेउ किन कोइ।
नरको बस करिवो कहा, नारायण बस होइ ॥

वास्तव में मन बड़ा प्रबल और प्रमथन करने वाला है इसका वस में करना बहुत ही टेढ़ी खीर है। श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवतगीता में अर्जुन को समझाते हुए कहा है, इन्द्रियों से दर्शनमात्र से मन तुरन्त ही चलायमान हो जाता है—

यततो ह्यापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित: ।
इन्द्राणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन: ॥ —गीता २/६०

अर्थात्, हे कौन्तेय ! यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन को यह प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।

एक कवि ने तो यहाँ तक कह दिया है :

यद्यपि मात भगनी सुता तौउ न बैठे पास।
प्रबला है ये इन्द्रियाँ करो मती विश्वास ॥

मन एक हाथी की तरह चंचल है। यह चौबीस घण्टे चलता ही रहता है इसके लिए चौबीस घण्टे काम चाहिए तब यह वस में हो सकता है। एक कथानक है कि एक बार किसी सेठ को नौकर की आवश्यकता थी। एक दिन एक नौकर काम करने के लिए मिल ही गया भगवान की सृष्टि में किसी चीज की कमी नहीं है जिसको जिस वस्तु की चाहना होती है वह मिल ही जाती है। नौकर बहुत ही फुर्तीला और शीघ्र काम करने वाला था जब उस नौकर से नौकरी करने के लिए तय किया गया तब उसने कहा मुझे भोजन और वस्त्र चाहिए सेठ ने कहा इससे सस्ता नौकर मुझे कहाँ मिल सकता है अत: उसने नौकर से कहा—तुम हमारे यहाँ नौकरी करलो तब नौकर कहने लगा सेठजी एक शर्त है उस शर्त पर मैं आपके यहाँ नौकरी कर सकता हूँ अन्यथा नहीं।

सेठजी कहने लगे तुम्हारी शर्त कौन-सी है बतलाओ। तब वह नौकर कहने लगा मुझे चौबीसों घण्टे काम चाहिए। वह काम तुम्हें बतलाना पड़ेगा। जिस समय आप काम नहीं

बतला सकोगे उस समय मैं आपके नाक, कान काट लूंगा। सेठ विचारने लगा कि घर का इतना काम है इसे मैं २४ ही घण्टे काम बतलाता रहूँगा। यह विचार करके उसने उस नौकर को अपने यहाँ रख लिया। सेठ नौकर को कार्य बतलाने लगा और नौकर उस कार्य को दक्षतापूर्वक करने लगा। नौकर रखनेके उपरान्त अब सेठ को हर समय यह चिन्ता बनी रहती कि किसी समय काम न बतला पाया तो यह नौकर मेरे नाक, कान काट लेगा। अतः इस चिन्ता से सेठ का स्वास्थ्य गिरने लगा और वह दिन पर दिन दुबला-पतला होता जा रहा था। एक दिन एक महात्मा उस सेठ के यहाँ विचरते हुए आ गए। सेठ ने उस महात्मा का आदर-सत्कार किया और भोजन खिलाया। भोजन कराने के उपरान्त वे अपने कमरे में बैठे हुए थे उसी समय सेठजी की दशा देख करके सन्त कहने लगे कि इतने दुबले-पतले होते जा रहे हो, तुम्हारे किसी बात की कमी तो है नहीं। परिवार है, धन-सम्पत्ति है, सन्तान है और तुम्हारा नौकर है यह तो इतना कार्यकुशल है कि कहना ही क्या। तब सेठने कहा कि महाराज यह इस नौकर की ही सारी करतूत है। नौकर इस शर्त पर रखा गया है कि इसको २४ घण्टे काम बतलाना पड़ेगा। जिस समय मैं इसे काम नहीं बतला पाऊंगा उस समय यह मेरे नाक, कान काट लेगा। इसी चिन्ता से शरीर का स्वास्थ्य गिरता जा रहा है। महात्माजी ने कहा बस इतनी-सी बात है बाजार से २० मीटर लोहे का लम्बा लट्ठा मंगवाओ जब लट्ठा आ गया तब महाराज ने उस लट्ठे को दुकान के सामने जमीन में गड़वा दिया और सेठ से कहा जब तुम्हारे पास काम कराने को न हो तब नौकर से कह दिया करना कि इस लट्ठे पर चढ़ो और उतरो। बस, तुम्हारी चिन्ता दूर हो जावेगी और उस नौकर को २४ घण्टे कार्य मिलता रहेगा। यह मन ही २४ घण्टे काम करने वाला नौकर है इसको वश में करने के लिए मन रूपी नौकर को अजपा गायत्री नाम जप रूपी लट्ठे पर चढ़ाइए और उतारिए। सदा शान्ति रहेगी। यही गुरु प्रदत्त मार्ग सर्वश्रेष्ठ योगमार्ग है।

रहन-सहन :—

● सामान्यतया हम किसी व्यक्ति या परिवार या समाज के रहन-सहन की चर्चा करते हैं तब उस व्यक्ति, परिवार या समाज के खान-पान, रहने की शैली एवं बाह्य व्यवहार पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहन-सहन के विषय में अपने निष्कर्ष प्रकट करते हैं। पर मेरे विचार में हम रहन-सहन की चर्चा में 'रहने' की बात पर तो विचार करते हैं पर दूसरे शब्द 'सहन' की कोई चर्चा नहीं करते और उसे गौण बना देते हैं, जिसका फलितार्थ यह होता है कि रहन-सहन के विषय में बहुधा एकांगी निष्कर्ष प्रकट हो जाते हैं। 'रहन-सहन' दो शब्द 'रहन' और 'सहन' से बना है अतः जितना महत्व 'रहन' पर दिया जाए उससे कम महत्व 'सहन' को नहीं देना चाहिए। यथार्थ तो यह है कि जिस व्यक्ति या परिवार, समाज, देश के नेतृ वर्ग में जितनी अधिक सहने की शक्ति होती है वह व्यक्ति, परिवार, समाज या देश ही अधिक तेजस्वी होता है।—सोहनराज कोठारी

(शेष पृष्ठ १६ का—आनन्द और प्रसन्नता की साधना)

पकड़ने पर जला डालती है किन्तु यदि उसे चिमटे से पकड़कर अपने काम में लेना चाहें तो कोई हानि नहीं होती।

इसी प्रकार आत्मध्यान से विवेक और वैराग्य रूपी चिमटे द्वारा विषय रूप अग्नि शरीर रक्षा के लिए उपयोग में लायी जा सकती है। फिर यह विषय रूपी अग्नि ज्ञानाग्नि और विचाराग्नि बन जाती है। जो अग्नि अज्ञान के कारण हमें दुःख दे सकती थी उसे ही ज्ञान और युक्ति से सेवनकर हम शीत निवृत्ति, भोजन पकाना तथा प्रकाश-व्यवस्था के काम में लेकर अपने दुःख की निवृत्ति कर सकते हैं।

श्रद्धा—चित्त प्रसादन का श्रेष्ठ उपाय है—श्रद्धा। योगदर्शन में भगवान पतंजलि ने उपाय-प्रत्यय योगियों की साधना के प्रसंग में श्रद्धा को साधना का सर्वप्रथम आधार माना है। देखिए सूत्र—

'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि
प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्।'

अर्थात् समाधि की उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है—१. भवप्रत्यय से, २. उपाय प्रत्यय से। जिन योगियों ने इन्द्रिय, मनबुद्धि का साक्षात्कार कर लिया और आनन्द की स्थिति में शरीर छूट गया, उन्हें पुनर्जन्म होने पर जन्म लेते ही योगध्यान की प्रतीति होने लगती है। जिन्होंने बचपन से ही वैराग्य के भावों से युक्त होकर योगध्यान में प्रवृत्त हो जाया करते हैं। ऐसे विदेह और प्रकृतिलीन योगियों का चित्त गुणाधिकार के दायरे में बना रहता है। वे स्वर्गादि लोकों का योग-ध्यान के पुण्यों से उपभोग कर पुनः जन्म लेकर आगे निस्त्रैगुण्यता की निर्विकल्पक साधना में स्वतः प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे योगी भवप्रत्यय वाले योगी कहलाते हैं।

दूसरे योगी उपाय प्रत्यय वाले होते हैं। वे ऐसे होते हैं जिन्हें पूर्वजन्मों में योग का संस्कार नहीं मिला किन्तु अन्य पुण्यों के प्रभाव से किसी योगी सिद्ध पुरुष या सन्त की कृपा का लाभ मिल गया। उन महापुरुषों से योग का उपदेश सुनकर या शास्त्रों से उसे समझकर योग का विषय में विश्वास पैदा हो गया। जब यह विश्वास उन्हें योग साधना के लिए उत्कट इच्छा उत्पन्न कर प्रेरित करने लगता है तो इस प्रवृत्ति को ही श्रद्धा कहा जाता है। भगवान वेदव्यास ने अपने व्यास भाष्य में श्रद्धा का अर्थ किया है—

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः' अर्थात् चित्त की एकाग्रता उत्पन्न करने वाली सतोगुणी प्रसन्नता की स्थिति श्रद्धा कहलाती है। श्रद्धा योगी की रक्षा पद पद पर माता की तरह करती रहती है। यह कल्याण कारिणी श्रद्धा साधक की रुचि योगमार्ग में निरन्तर बढ़ाती ही रहती है और माता के समान चित्त को आनन्द एवं प्रसन्नता से पुष्ट करती रहती है। यह आनन्दानुगत स्थिति अन्तिम स्थिति नहीं है। यह अन्तःकरण का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है। किन्तु अस्मितानुगत समाधि से पहले रहने का योग्य होने के कारण आवश्यक है। अस्मितानुगत समाधि तक प्रकृति के गुणों का अधिकार रहा करता है। अतः यहाँ तक पहुँचे योगी विदेह और प्रकृति-लीन योगी कहलाते हैं। उन्हें उपाय प्रत्यय के योगियों की भाँति तीव्र संवेग के उपायों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक कर्मा-

मल का क्षय नहीं होता तब तक वे निर्विकल्पक या निर्बीज समाधि में पहुँचकर कृतकृत्य नहीं हो पाते जैसा कि सांख्य दर्शन में कहा गया है—

'नानन्दाभिव्यक्ति र्मुक्ति निर्धर्मत्वात ।'
५/७४

अर्थात् आनन्द का प्रकटीकरण ही मुक्ति नहीं है क्योंकि आनन्द अन्तःकरण का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है। इसलिए विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को आत्म स्थिति लाभ के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। जन्म के साथ ही उन योगियों में भी श्रद्धा का बीज सुरक्षित रहता है। श्री सद्गुरु के वचनों, उपदेशों, मन्त्र और शास्त्रों में उनका विश्वास अचल रहा करता है। हमारे परम पूज्य श्री सद्गुरुदेव के गुरुभाई पूज्य श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी आनन्दानुगत स्थिति में सदा मग्न रहा करते थे। उनके कीर्तन में आने जाने वाले सैकड़ों की संख्या में साधक भी कीर्तन करते-करते समाधिस्थ हो जाया करते थे।

जब चित्त में आनन्द के विरोधी भाव, असूया, कलुष, द्वेष या द्रोह रहते हैं तब मन तमोगुणी और रजोगुणी बन जाता है जिससे सतोगुण दब जाया करता है। जब तक सतोगुण का प्रकाश नहीं होता तब तक अहंकार शुद्ध नहीं हो पाता। बिना शुद्ध अहंकार के आनन्दानुभूति नहीं होती। चित्त के कालुष्य को दूर करने से चित्त निर्मल होकर आनन्द में तरंगित होने लगता है। भगवान पतञ्जलि ने योग सूत्र में चित्त को निर्मल करने के उपायों का उपदेश किया है—

'मैत्री करुणा मुदितो पेक्षाणां
सुख-दुःख पुण्यापुण्य-विषयाणां
भावनातश्चित्त प्रसादनम् ।' १/३३

अर्थात् मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता का भाव रखने के अभ्यास से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है। चित्त को चंचल बनाने वाले राजस और तामस भाव ही हुआ करते हैं। चित्त की चंचलता तथा मलिनता छः प्रकार के मलों से होती है। ये मल हैं—राग, ईर्ष्या, दूसरे के अहित की इच्छा या अनेक द्वेष, क्रोध—सुखोपभोग करने पर चित्त में उस सुख को सदा भोगते रहने की चाह पैदा हो जाती है। सुख की वस्तुएं सदा तो मिलती नहीं। जब सुख के साधन चाहने पर नहीं मिलते तो चित्त में चंचलता होकर दुःख होता है।

इस प्रकार दूसरों की उन्नति देखकर चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है। उससे भी चित्त चंचल होकर दुःख का अनुभव करने लग जाता है। दूसरे का नुकसान करने की भावना भी चित्त विक्षेप पैदाकर दुःखदायी बनती है। किसी गुणी व्यक्ति के गुणों में दोष देखना 'असूया' नामक मल है। जैसे किसी अच्छे सन्त को देखकर मन में कुढ़न हो कि यह ढोंगी और पाखण्डी इतना सम्मान क्यों पाता है। इसी प्रकार क्षमा का विरोधी भाव द्वेष है। अमर्ष मन की वह अवस्था है जब व्यक्ति अपमानित होकर उससे बदला लेने के लिए उत्तेजित हो उठता है।

जीवन में उपर्युक्त प्रसंग प्रायः उपस्थित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में साधक को चाहिए कि वह सुखी मनुष्यों को देखकर ऐसी

भावना करे कि ये सब मेरे मित्र हैं। इनका सुख मेरा सुख है। इस भावना से राग और ईर्ष्या का कुभाव दूर होगा तथा चित्त प्रसन्न होकर एकाग्रता का भाव बढ़ेगा। जब दूसरे के सुख को अपना सुख मानने की भावना दृढ़ हो जायेगी तो हृदय की जलन और ईर्ष्या चित्त को चंचल नहीं बनायेगी। दीन-दुःखियों पर करुणा और दया का भाव रखने से घृणा और किसी का बुरा करने की भावना नहीं होगी। किसी को दुःखी देखकर उसका दुःख दूर करने का उपाय करने का स्वभाव बनाने से चित्त में सतोगुण का विकास होता है।

पुण्यात्माओं को देखकर चित्त हर्ष और मुदिता की भावना से भरने में प्रसन्नता होती है जिससे असूया मल दूर होता है। पाप कर्मों में प्रवृत्त लोगों को देखकर उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। उदासीनता के भाव से घृणा और बदला लेने का कुविचार नष्ट हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कुत्ते के उदाहरण से दुष्ट के प्रति उदासीन भाव को समझाया है—

'उदासीन नहि रहिय गोसाईं।
खल परिहरिय स्वान की नाईं॥

क्योंकि—

'काटे चाटे स्वान के दुहु भाँति विपरीत।'

गाँधीजी के कुर्ते पर किसी ने आलपिन से गालियाँ लिखकर पर्ची लगा दी थी। उन्हें जब पता चला तो उन्होंने आलपिन निकाल ली और गालियों का कागज निरर्थक समझकर फेंक दिया। इसी प्रकार हमें अपने विरोध करने वाले से अपने उपयोग की चीज ले लेनी चाहिए। वैसे उसके प्रति उदासीन ही रहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त हमें दिन में एक बार सब कुछ भुलाकर मुक्तभाव से जोर से हँसना चाहिए, जिससे हृदय का कमल पूरा खिल सके और मन की मायूसी दूर हो सके। हँसने की कला प्राणि-जगत में मनुष्य को ही ईश्वर ने दी है। न गधा हँस सकता है न घोड़ा, न चूहा, बिल्ली, चिड़िया आदि। अतः हमें हँसना चाहिए, जिससे चित्त प्रसन्न रहे। हँस कौन सकता है?—"या तो दीवाना हँसे, या जिसे खुदा तौफीक दे। वरना इस दुनियाँ में क्या कोई हँस सकता है?"

● भगवान महावीर का पूरा वाङ्मय कहता है कि किसी आदमी के दुःख से दुःखी होकर उसके साथ रोने के लिए मत बैठो। यह एक तरह का जीवन से पलायन है। उस दुःखी मनुष्य के दुःख के कारणों को समझकर उन्हें निर्मूल करो। इसीसे दुःख दूर होगा।

—मुनि श्री विजयकुमार

● संग्रहकर्ता—श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा, ग्वालियर

मानस-नीति-दर्पण

(सुन्दरकाण्ड से संग्रहीत)

[सुधी लेखक मानस के साधकों में से हैं। 'राम के आँसू' नामक आपकी कृति हाल ही में प्रकाशित हो चुकी है। मानस-नीति-दर्पण संग्रह आपकी दूसरी कृति है जिसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं। —सम्पादक]

सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥

अर्थ—यद्यपि सेवक के घर स्वामी का पधारना मंगलों का मूल और अमंगलों का नाश करने वाला होता है, तदपि नाथ! उचित तो यही था कि प्रेमपूर्वक दास को ही कार्य के लिए बुला भेजते, ऐसी ही नीति है।

भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सो छारा॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचनु न जाई॥

अर्थ—सूर्य कमल कुल का पालन करने वाला है, पर बिना जल के वही सूर्य उनको (कमलों को) जला कर भस्म कर देता है। रघुकुल में सदा से यह रीति चली आयी है कि प्राण भले ही चले जावें, पर वचन नहीं जाता।

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होंहि कि कोटिक गुंजा॥
सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥

अर्थ—असत्य के समान पापों का समूह भी नहीं है। क्या करोड़ों घुंघचियाँ मिलकर भी कहीं पहाड़ के समान हो सकती हैं। सत्य ही समस्त उत्तम सुकृतों (पुण्यों) की जड़ है। यह बात वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और मनुजी ने भी यही कहा है।

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

अर्थ—हे माता! सुनो वही पुत्र बड़भागी है जो पिता-माता के वचनों का अनुरागी (पालन करने वाला) है। (आज्ञा पालन के द्वारा) माता-पिता को सन्तुष्ट करने वाला, पुत्र हे जननी! सारे संसार में दुर्लभ है।

धन्य जनमु जगतीतल तासू । पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥
चार पदारथ करतल ताके । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाके ॥

अर्थ—इस पृथ्वी पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित्र सुनकर पिता को परम आनन्द हो। जिसको माता-पिता प्राणों के समान प्रिय हैं चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) उसके करतलगत (मुट्ठी) में रहते हैं।

सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ । सब बिधि अगहु अगाध दुराऊ ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई । जानि न जाइ नारि गति भाई ॥

अर्थ—कवि सत्य ही कहते हैं कि स्त्री का स्वभाव सब प्रकार से न पकड़ने योग्य अथाह और भेद भरा होता है। अपनी परछाईं भले ही पकड़ी जाय पर भाई स्त्रियों की गति (चाल) नहीं जानी जाती।

दोहा—काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ ।
का न करै अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ ॥

एहि तें अधिक धरमु नहिं दूजा । सादर सासु ससुर पद पूजा ॥

दोहा—सहज सुहृद गुर स्वामि, जो न करहि सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि ॥

अर्थ—आग क्या नहीं जला सकती ? समुद्र में क्या नहीं समा सकता ? अबला कहाने वाली प्रबल स्त्री (जाति) क्या नहीं कर सकती ? और जगत में काल किसको नहीं खाता ?

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई । प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई ॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥

अर्थ—आदर पूर्वक सास-ससुर के चरणों की पूजा (सेवा) करने से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते ॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू । पति बिहीन सबु सोक समाजू ॥

अर्थ—स्वाभाविक ही हित चाहने वाले गुरु और स्वामी की सीख को जो सिर चढ़ाकर नहीं मानता, वह हृदय में भर पेट पछताता है और उसके हित की हानि अवश्य होती है।

भोग रोग सम भूषन भारू । जम जातना सरिस संसारू ॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

अर्थ—माता, पिता, बहन, प्यारा-भाई, प्यारा-परिवार, मित्रों का समुदाय सास, ससुर, गुरु, स्वजन (बन्धु-बान्धव), सहायक और सुन्दर सुशील और सुख देने वाला पुत्र—हे नाथ जहाँ तक स्नेह और नाते हैं, पति के बिना स्त्री को सभी सभी सूर्य से भी बढ़कर तपाने वाले हैं, शरीर, धन, घर, पृथ्वी, नगर और राज्य पति के बिना स्त्री के लिए यह सब शोक का समाज है।

महामना शुकदेव और उनके उपदेश

स्वामी श्री अच्युतानन्दजी महाराज

शुकदेवजी महर्षि वेदव्यास के पुत्र हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कथाएं मिलती हैं। महर्षि वेदव्यास ने यह संकल्प करके कि पृथ्वी, जल, वायु और आकाश की भाँति धैर्यशाली तथा अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो, गौरी-शंकर की विहारस्थली सुमेरुगिरि के रमणीय शृङ्ग पर घोर तपस्या की। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने वैसा ही पुत्र प्राप्त होने का वर दिया। यद्यपि भगवान् के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायन की इच्छा और दृष्टिमात्र से कई महापुरुषों का जन्म हो सकता था और हुआ है तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचार के धारण करने योग्य सन्तान उत्पन्न करने के लिए और संसार में किस प्रकार के सन्तान की सृष्टि करनी चाहिए, यह बात बताने के लिए ही उन्होंने तपस्या भी की होगी। शुकदेव की महिमा वर्णन करते समय इतना स्मरण हो जाना कि वे वेदव्यास के तपस्याजनित पुत्र हैं, उनके महत्व की असीमता सामने ला देता है।

उन्होंने एक दिन अपने पिता व्यासदेव के पास जाकर बड़ी नम्रता के साथ मोक्ष के सम्बन्ध में बहुत-से प्रश्न किये। उत्तर में व्यासदेव ने बड़े ही वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये। उन्होंने कहा—

बेटा! धर्म का सेवन करो। यम-नियम तथा दैवी सम्पत्तियों का आश्रय लो। यह शरीर पानी के बुलबुले के समान है। आज है तो कल नहीं। क्या पता किस समय इसका नाश हो जाय। इसमें आसक्त होकर अपने कर्तव्य को नहीं भूलना चाहिए। दिन बीते जा रहे हैं। क्षण-क्षण आयु छीज रही है। एक-एक पल की गिनती की जा रही है। इसे व्यर्थ बीतने नहीं देना चाहिए।

'संसार में वे ही महात्मा सुखी हैं, जिन्होंने वैदिक-मार्ग पर चलकर धर्म का सेवन करके परमतत्व की उपलब्धि की है। उनकी सेवा करो और वास्तविक शान्ति प्राप्त करने का उपाय जानकर उस पर आरूढ़ हो जाओ। दुष्टों की संगति कभी मत करो। वे पतन के गड्ढे में ढकेल देते हैं। वीरता और धीरता धारण कर काम-क्रोधादि शत्रुओं से बचो और धीरता के साथ आगे बढ़ो। तुम्हें कोई तुम्हारे मार्ग से विचलित नहीं कर सकता। परमात्मा तुम्हारा सहायक है। वह तुम्हारी शुभेच्छा और सचाई को जानता है। तुम तत्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मिथिला के नरपति जनक के पास जाओ। वे तुम्हारे सन्देह को दूर कर स्वरूपबोध करा देंगे। तुम जिज्ञासु हो, बड़ी नम्रता के साथ उनके पास जाना। परीक्षा का भाव मत रखना। घमण्ड मत करना। उनकी आज्ञा का पालन करना।

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके शुकदेवजी महाराज अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हुए मिथिला में पहुँचे। द्वारपालों ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। परन्तु उनकी उत्कृष्टमान ज्योति को देखकर तिरस्कार की दशा में भी पूर्ववत् प्रसन्न देखकर एक ने उनके पास आकर बड़ी अभ्यर्थना की। वह उन्हें बड़े सत्कार से अन्दर ले गया। मन्त्री ने उन्हें एक ऐसे स्थान पर ठहराया, जहाँ भोग की अनेक वस्तुएँ थीं। उनकी सेवा में बहुत-सी सुन्दर स्त्रियों को लगा दिया गया। परन्तु वे अविचल रहे। सुख-दुःख, शीत-उष्ण में एक समान रहने वाले शुकदेवजी को उन्हें देखकर कुछ भी हर्ष-शोक नहीं हुआ। ब्रह्मचिन्तन में संलग्न रहकर उन्होंने वह दिन और रात्रि बिता दी। दूसरे दिन प्रातःकाल जनक ने उनकी पूजा अर्चा की। कुशल-मङ्गल के पश्चात् शुकदेवजी ने अपने आने का प्रयोजन बतलाया और प्रश्न किया। जनक ने उनके अधिकार की प्रशंसा करके कहा—

'बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं होता और बिना गुरु-सम्बन्ध के ज्ञान नहीं होता। इस भव-सागर से पार करने के लिए गुरु ही कर्णधार है। ज्ञान से ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है। ज्ञान सभी साधनों का आधार और फल है। जिसे किसी का भय नहीं है, वह किसी को भय नहीं पहुँचाता, जिसे न राग है न द्वेष, वही ब्रह्मसम्पन्न होता है। जब प्राणी (मानव) मन, वाणी और कर्म से किसी का अनिष्ट नहीं करता, काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मन के मलों को त्याग देता है, दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वों में समान दृष्टि रखने लगता है, तब वह ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है। शुकदेव ! ये सभी बातें तथा अन्यान्य समस्त सद्गुण तुम में प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। मैं जानता हूँ कि तुम्हें समस्त ज्ञातव्य बातों का ज्ञान है। तुम विषयों से परे पहुँच चुके हो। तुम्हें विज्ञान प्राप्त है। तुम्हारी बुद्धि स्थिर है। तुम ब्रह्म में स्थित हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो और क्या कहूँ ?' इस प्रकार जनक के उपदेश सुनकर शुकदेव को बड़ा आनन्द हुआ। उनसे विदा होकर वे पुनः हिमालय पर (मतान्तर से सुमेरुगिरि पर) अपने पिता व्यासजी के आश्रम पर लौट आये।

इन भागवतवक्ता, परमभागवत शुकदेव के पास प्रायः बड़े-बड़े ऋषि आया करते थे। नारदीयपुराण में सनत्कुमार के और महाभारत में नारद के आने की चर्चा आती है। उनके आने पर शुकदेवजी बड़े प्रेम से उनकी पूजा करते और उनसे प्रश्न करके तत्त्व की बात सुनते थे।

शुकदेवजी के इस प्रकार के सत्संगप्रसंग बहुधा चलते ही रहते थे। इन श्री व्यासनन्दन के मार्मिक उपदेश इस प्रकार हैं—

'संसार में जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं, परन्तु जीव उनके मोह में ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उसकी मृत्यु का ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं है। इसलिए परीक्षित ! जो अभय पद को प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए।

'जब जमीन पर सोने से काम चल सकता है, तब पलंग के लिए प्रयत्नशील होने का क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपने को भगवान् की कृपा से स्वयं ही मिली हुई हैं, तब तकिये

की क्या आवश्यकता। जब अञ्जिल से काम चल सकता है, तब बहुत से बर्तन क्यों बटोरें। वृक्ष की छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रों की क्या आवश्यकता ? पहनने को क्या रास्तों में चिथड़े नहीं हैं ? भूख लगने पर दूसरों के लिए ही शरीर धारण करने वाले वृक्ष क्या फल-फूल की भिक्षा नहीं देते ? जल चाहने वालों के लिए नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं ? रहने के लिए क्या पहाड़ों की गुफायें बन्द करदी गई हैं ? अरे भाई सब न सही, क्या भगवान भी अपने शरणागतों की रक्षा नहीं करते ? ऐसी स्थिति में बुद्धिमान् लोग भी धन के नशे में चूर घमण्डी धनियों की चापलूसी क्यों करते हैं ? इस प्रकार तो समुदाचार का उल्लंघन होता है। अतः विरक्त हो जाने पर अपने हृदय में नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् है, उन्हीं का बड़े प्रेम और आनन्द से दृढ़ निश्चयपूर्वक भजन करे, क्योंकि उनके भजन से जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले अज्ञान का नाश हो जाता है।

प्रयाग का माघ मेला और श्री सिद्धगुफा शिविर

जैसा कि योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के रहते हुए प्रतिवर्ष प्रयाग में गंगा स्थल पर श्री सिद्धगुफा के शिविर का आयोजन रहा करता था उसी प्रकार श्री सिद्धगुफा शिविर का आयोजन प्रयाग निवासी गुरु भाई **श्री मालवीय जी** के संयोजन और तत्वावधान में इस वर्ष भी समायोजित होगा।

यह मेला मकर संक्रान्ति दिनांक १४-१-१९९२ ई० से आरम्भ होकर बसन्त पंचमी दिनांक ९-२-१९९२ ई० तक रहेगा। सङ्गम स्नान का लाभ लेने के लिए सभी गुरु भाई-बहन सादर आमन्त्रित हैं।

इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें।

पता—**श्री विनय मालवीय**
४५७, मालवीय नगर
इलाहाबाद (उ० प्र०)

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, JANUARY, 1992

प्रेषक कार्यालय :—

सि|द्ध|यो|ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक

उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, बवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book-Poost

श्री..

....

....

....

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्

जैसे सब ओर विचरणशील वायु नित्य आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जाने।

जनसाधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य है कि महान् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव इस सत्य को लोकबुद्धि में प्रवेश करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना शक्ति के लिए आकाश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में स्थित है, वह आकाश से अलग नहीं है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसीके आधीन है। जैसा लोक प्रसिद्ध है, भगवत् इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार होता रहता है।

—गीता ९/६

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा Ph.360426